विवेक - ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १] विवेकानन्द - विशेषांक [अंक २

विवेक-ज्योति

श्री रामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-जून; १९६३

विवेकानन्द-विशेषांक

सम्पादक-मण्डल

स्वामी आत्मानन्द,

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

संचालक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नम्बर १०४६

विवेक-ज्योति नियमावली

षिक चन्दा ४) एक अंक का १)

ग्राहकों के लिए----

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और क्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा नीआर्डर से भेजना चाहिए। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने र ही भेजी जा सकती हैं।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, म और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले,तो डाकखाने में पहले पूछ-छ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो, ो अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची ने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त ानी चाहिए।

लेखकों के लिए----

१. 'विवेक-ज्योति' आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान,कला, अर्थशास्त्र, ाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए येंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देने वाले ऐति-सिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में रहेगा। सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट ोण से लिखे गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों को ा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचनाएँ आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. कागज के एक ही ओर सुवाच्य अक्षरों से लिखे जायँ।

७. (ख सम्बन्धी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

८. पु .क की समीक्षा के लिए उसकी दो प्रतियाँ भेजनी चाहिये।

विज्ञापन देने के लिए--

'विवेक-ज्योति' में विज्ञापन की दरें निम्नलिखित हैं- हर बार-पूरा पृष्ठ ४०), आधा पृष्ठ२५),एक चौथाई पृष्ठ१५)

कव्हरपृष्ठ पर या अन्य किसी विशेष स्थान पर यदि विज्ञापन देना है, तो उसके लिए निम्नलिखित पते पर पत्र व्यवहार करें :—

व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय
विवेकानन्द आश्रम, ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर

अनुक्रमणिका

प्रकाशक—स्वामी आत्मानन्द,
विवेकानन्द आश्रम,
ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर (मध्य प्रदेश)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १] अप्रैल १९६३ जून [अंक २

वार्षिक चन्दा ४) } { एक प्रति का १)

प्रार्थना

मधुमन्मे निक्रमणं
मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद्
भूयासं मधुसंदृशाः ॥

"मेरे पास सब कुछ मधुमय आये,
मुझमें से सब कुछ मधुमय निकले,
मेरी रसना सब कुछ मधुमय बोले,
मेरा रूप ही मधुमय हो जाय।"

अथर्ववेद, १।३४।३

श्रीरामकृष्ण उवाच

"विषयों के प्रति आसक्ति जितनी कम होगी, ईश्वर के प्रति मति उतनी ही बढ़ेगी। श्रीमती (राधारानी) जितनी ही कृष्ण की ओर आगे जाती हैं, उन्हें कृष्ण की देह की उतनी ही सुगन्धि मिलती है। हम ईश्वर के जितने निकट जाते हैं, उतनी ही उनके प्रति भाव-भक्ति होती है। नदी ज्यों-ज्यों सागर के समीप जाती है, त्यों-त्यों उसमें ज्वार-भाटा दीख पड़ता है।

"ज्ञानी के भीतर मानो गंगा समान रूप से बहती रहती है। उसके लिए सब कुछ स्वप्नवत् है। वह सदैव स्वस्वरूप में मग्न रहता है। पर भक्त के भीतर गंगा सम-प्रवाही नहीं होती, उसमें ज्वार-भाटा आता है। वह हँसता है, रोता है, नाचता है, कूदता है। भक्त ईश्वर के साथ विलास करना पसन्द करता है—कभी तैरता है, कभी डुबकी लगाता है, कभी ऊपर उठ आता है, जैसे बर्फ पानी में डूबती-उतराती है।

"ज्ञानी ब्रह्म को जानना चाहता है। पर भक्त के भगवान् षड़ैश्वर्यपूर्ण हैं, सर्वशक्तिमान् हैं। किन्तु वास्तव में ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं। जो सच्चिदानन्द हैं, वही सच्चिदानन्दमयी हैं। जैसे, मणि की ज्योति और मणि। मणि की ज्योति कहने से ही मणि का बोध होता है और मणि कहने से ही उसकी ज्योति का। वही एक सच्चिदानन्द, शक्ति की भिन्नता से विभिन्न उपाधियों में बँध-से गये हैं, इसीलिए ये नाना रूप दिखाई पड़ते हैं।"

—१९ अगस्त, १८८३ ई०।

सम्पादकीय

एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति

सुदूर किसी गाँव की बात है। एक मनुष्य शौच के लिए जंगल की ओर गया था। लौटते समय उसने एक वृक्ष पर हरे रंग का प्राणी देखा। विचारों के उधेड़-बुन में खोया हुआ वह चला जा रहा था कि अचानक किसी की आवाज उसके कानों में पड़ी। चौंककर देखा, सामने उसका एक मित्र खड़ा है। 'क्यों' क्या बात है? बड़े डूबे मालूम पड़ते हो?' मित्र ने हँसते हुए पूछा। 'कुछ नहीं, भाई। विचारों में यूँ ही खो-सा गया था। तुम अपनी बताओ।' वार्तालाप आगे बढ़ता है। बात-चीत के सिलसिले में प्रथम व्यक्ति कहता है, 'मैं अभी शौच से लौट रहा हूँ। आते समय एक वृक्ष पर मैंने हरे रंग का प्राणी देखा।' 'किस वृक्ष पर?' मित्र उत्सुक होकर पूछता है। 'अरे' उसी वृक्ष पर, जो उस बड़े तालाब के किनारे है, जिसके नीचे एक महात्माजी धूनी रमाये बैठे रहते हैं।' मैंने भी तो कुछ ही समय पूर्व उस पर एक प्राणी देखा', मित्र कहता है, 'पर वह हरे रंग का तो नहीं था। वह तो लाल था।' 'नहीं' मैं तो अभी देख कर आ रहा हूँ! उस प्रथम व्यक्ति ने कहा, 'वह लाल नहीं, हरा है। मित्र ने अपनी बात पर जोर देते हुए कहा, 'नहीं-नहीं, वह लाल है। शायद हरे पत्तों के कारण वह तुम्हें हरा दीख पड़ा होगा। वास्तव में वह लाल है। 'तुमने गलत देखा है।'

भला कौन स्वीकार करेगा कि उसका देखा हुआ

गलत है ? प्रथम व्यक्ति क्रुद्ध हो उठता है, 'हाँ-हाँ' मैंने अभी देखा तो गलत देखा, और तुम्हें देखे जमाना बीत गया पर तुमने सही देखा ! लबार कहीं के !' अब क्या था। खासी लड़ाई मच गयी कि इतने में उधर से कोई व्यक्ति निकला। 'क्या बात है ? क्यों इस तरह लड़ रहे हो ?' उस तीसरे व्यक्ति ने पूछा। कारण सुनकर उसने कहा, 'तुम दोनों गलत कह रहे हो। मैंने भी उस वृक्ष पर उस प्राणी को देखा है। वह न हरा है, न लाल, वह तो पीला है।' अब क्या था, दो की लड़ाई में यह तीसरा कूद पड़ा। बात इतनी बढ़ी कि गाली-गलौज उन तक ही सीमित न रही, उनके सगे सम्बन्धी लबार और झूठा मुकदमा लड़नेवाले बनने लगे ! बाप-दादों की कब्रें उखाड़ी जाने लगीं ! और जब जबानें इस प्रकार लड़ने लगीं, तो हाथ-पैरों ने सोचा कि हमने क्या ऐसा दोष किया जो चुप बैठे रहें। फिर क्या था ! कुरुक्षेत्र का दृश्य दीखने लगा। गुत्थमगुत्थी में तीसरे व्यक्ति को जो घूँसा पड़ा कि इसे तारे नजर आने लगे। सिर थामकर वह वहीं बैठ गया। कुछ देर बाद उसकी बुद्धि ठिकाने आयी तो कहने लगा, 'मार-पीट में भला क्या रखा है ? चलो, चलकर देख न लें उस प्राणी को ? आँखों-देखे का क्या झगड़ा।' तीनों इस प्रस्ताव से सहमत हो जाते हैं और जोर-शोर से बहस करते हुए उस वृक्ष की ओर चल पड़ते हैं।

वे वृक्ष के समीप पहुँचे। वृक्ष के नीचे महात्माजी धूनी

लगाये बैठे थे। इन तीनों को जोरों से बहस करते देख उन्होंने पूछा, 'क्या बात है ? क्यों इस प्रकार लड़ रहे हो?' कारण सुन कर महात्माजी ने कहा, 'देखो, लड़ो मत। मैं फैसला किये देता हूँ। मैं तो सदैव इस वृक्ष के नीचे रहता हूँ। मैंने सभी अवस्थाओं में उस प्राणी को देखा है। बोलो, मेरा फैसला मानोगे तो ?' तीनों एक साथ कह उठे, 'अवश्य महाराज, इसीलिए तो हम आपके पास आये हैं।' तब महात्माजी ने फैसला देते हुए कहा, 'तुम तीनों सही कहते हो और तुम तीनों गलत कहते हो !' सुनकर तीनों भौंचक रह गये। यह कैसा फैसला है ! यह तो मजाक है ! तीनों को अपनी बात न समझते देख महात्माजी पुनः बोले, 'बात यह है कि जिस प्राणी को तुमने इस वृक्ष पर देखा है, वह है गिरगिट। वह हर दम अपना रंग बदलता रहता है। कभी उसका रंग हरा रहता है, तो कभी लाल और कभी पीला। कभी वह स्याह हो जाता है, और कभी कभी मैं देखता हूँ कि उसका कोई रंग नहीं रहता। इसी लिए मैंने तुम लोगों से कहा कि तुम तीनों सही कहते हो और तुम तीनों गलत कहते हो।' यह कहकर महात्माजी चुप हो गये। पर उन्होंने जब देखा कि अब भी मेरी बात ये लोग पूरी तरह समझ नहीं पाये हैं, तो उन्होंने विशेष रूप से समझाते हुए प्रथम व्यक्ति को सम्बोधित करके कहा 'देखो' जब तुम उस प्राणी को हरे रंग का कहते हो, तो बिलकुल सही बात कहते हो। पर जब तुम उसे केवल हरे रंग का कहते हो, उसके दूसरे रंगों को नहीं मानते,

तब तुम गलत बात कहते हो।' इसी प्रकार महात्माजी ने शेष दोनों व्यक्तियों को भी समझा दिया।

श्री रामकृष्ण अपने भक्तों को बहुधा यह कहानी सुनाया करते थे। वे कहते थे कि धर्मों के झगड़े वास्तव में दृष्टि की अपूर्णता के कारण होते हैं। ईश्वर अनन्त भावमय हैं। उनके अनन्त रूप हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका ईश्वर अलग है। वह अपनी बुद्धि लेकर ईश्वर की थाह पाने जाता है, उन्हें नापना चाहता है। उसे कुछ दर्शन हुआ कि बस, वह उसी को एकमात्र सत्य समझ लेता है। सोचता है कि दूसरे लोग ईश्वर का जो रूप बतलाते हैं, वह सब मिथ्या है। एक ओर मनुष्य ईश्वर को असीम और अनन्त कहता है और दूसरी ओर उन्हें अपनी बुद्धि के तंग दायरे में सीमित भी कर देना चाहता है। मानव-बुद्धि की यह कैसी विडम्बना है! इसी को संकीर्णता कहते हैं, धर्मान्धता कहते हैं। इसी से झगड़ों की उत्पत्ति होती है। पर जिसने ईश्वर को सभी रूपों में देखा है, जिसने वृक्ष के नीचे रहकर उस प्राणी को सभी अवस्थाओं में देखा है, उसी ने यथार्थ में देखा है। वह जानता है कि ईश्वर के ये सभी रूप सत्य हैं, वे साकार हैं, फिर निराकार भी; रूपवान् हैं, फिर अरूप भी।

धर्मों के ये आपसी झगड़े, ये आपस के विवाद तभी तक होते हैं, जब तक मनुष्य ईश्वर की ओर नहीं बढ़ता। धर्मों के दो रूप होते हैं—बाहरी और भीतरी। लड़ाई वे ही लोग करते हैं, जो धर्म के बाहरी रूप से चिपटे रहते

हैं, जो धर्म के हृदय को, उसकी अनुभूति को छूने का प्रयत्न नहीं करते। जैसे, एक वृत्त है। उसका एक केन्द्र है। उसकी परिधि से केन्द्र तक पहुँचने के अनन्त रास्ते हैं। वृत्त की त्रिज्याएँ अनन्त है और प्रत्येक त्रिज्या केन्द्र तक पहुँचने का एक मार्ग है। अब मान लें कि परिधि के दो बिन्दुओं पर अ और ब खड़े हैं। दोनों केन्द्र में पहुँचना चाहते हैं। पर कोई भी आगे नहीं बढ़ता। अ अपने स्थान से चिल्लाकर ब से कहता है, 'अरे मूर्ख, वहाँ क्या खड़ा है? अगर तुझे केन्द्र में पहुँचना है,तो यहाँ मेरे पास आ जा। वहाँ से तू अपने गन्तव्य में न जा सकेगा।' इसी प्रकार ब भी रोष में आकर अ को अपने पास बुलाता है। स्वामी विवेकानन्द दोनों को सम्बोधित करके कहते हैं, मूर्खो, क्या बकवास कर रहे हो? आगे बढ़ो तो सही। जहाँ हो, वहीं से केन्द्र की ओर आगे बढ़कर तो देखो।' चरैवेति, चरैवेति। अ और ब अपनी-अपनी जगह में चिपटे हुए बैठे हैं। यदि वे अपनी ही जगह से आगे बढ़ें, तो देखेंगे कि उनकी आपस की दूरी धीरे-धीरे कम हो रही है। जब तक वे परिधि पर थे, उनकी दूरी सर्वाधिक थी, पर जैसे-जैसे वे केन्द्र के समीप पहुँचते जाते हैं, उनकी दूरी अपने आप कम होती जाती है। और जब वे केन्द्र में पहुँच जाते हैं, तब देखते हैं कि उनमें कोई दूरी है ही नहीं, वे एक और अभिन्न हैं। अब उन्हें स्पष्ट दिखायी देता है कि केन्द्र में पहुँचने के अनन्त मार्ग हैं। पर जब तक वे परिधि पर खड़े थे, तब तक उन्हें

केन्द्र में पहुँचने का केवल अपना ही मार्ग दिखायी देता था।

इसी प्रकार, हम सब विश्वरूपी वृत्त की परिधि पर खड़े हैं, जिसके केन्द्र हैं ईश्वर। हम सबका लक्ष्य वही एक केन्द्र है, पर रास्ते अलग-अलग हैं। हम आगे तो बढ़ते नहीं और 'मेरा धर्म' 'मेरा धर्म' कहकर चिल्लाते रहते हैं। वास्तव में, प्रत्येक धर्म मानो इस ईश्वर-केन्द्रित विश्व-वृत्ति की त्रिज्या है। जब तक हम ईश्वर से दूर हैं, तभी तक धर्मों में हमें अन्तर दिखायी पड़ता है। पर जैसे-जैसे हम ईश्वर की ओर बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे धर्मों की दूरी भी घटती जाती है। ईश्वर में पहुँचकर सबका विलय हो जाता है।

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यः त्वमसि पयसामर्णव इव॥

—जिस प्रकार नदियाँ विभिन्न उद्गम स्थानों से निकलकर, सीधे या टेढ़े-मेढ़े रास्तों से बहती हुई अन्त में एक सागर में ही समा जाती हैं, उसी प्रकार, हे नाथ, मनुष्य अपनी प्रवृत्ति की भिन्नता के कारण भले ही सीधे या टेढ़े-मेढ़े मार्गों का अवलम्बन करें, पर अन्त में वे तुम्हीं में समाहित हो जाते हैं।

धर्म के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञों की यही भावना रही है। धर्म मानव-जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति का एक मार्ग है। उस लक्ष्य को आप कोई भी नाम दें—ईश्वर कहें या पर-मात्मा, अल्ला कहें या खुदा, विष्णु कहें या शिव, गॉड

(god) कहें या और कुछ—इससे लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। गुलाब गुलाब ही रहेगा, भले ही उसे किसी दूसरे नाम से पुकारा जाय। वह लक्ष्य ही जीवन का सार है, जीवन का एकमेव सत्य है। जिसने भी उस लक्ष्य की प्राप्ति की है, वह एक ही बात कहता है। श्री रामकृष्ण अपनी सहज सरल भाषा में कहते थे, 'सब शियालेर एक रा'—सब सियारों का एक ही राग होता है! कितनी बड़ी बात कितने थोड़े शब्दों में श्रीरामकृष्ण ने कह दी! सियार जहाँ का भी हो—चाहे इंगलैण्ड का या रूस का, अमेरिका का हो या एशिया का—जब चिल्लायेगा, तो एक ही आवाज निकलेगी। उसके चिल्लाने मात्र से यह मालूम हो जायगा कि वह सियार है। इसी प्रकार जिसने भी अपने हृदय में उस चरम सत्य के दर्शन किये हैं,—फिर वह चाहे जिस किसी देश का हो—वह एक ही बात कहता है, एक ही सत्य का आख्यान करता है। उसकी वाणी ही यह बता देती है कि उसने मूल तत्त्व को देख लिया है। यथार्थ सत्य का दर्शन करने वाला ऋग्वेद के मन्त्र द्रष्टा ऋषि के स्वर से स्वर मिलाकर कह उठता है—'जिसे लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा कहते है, वह सत्ता केवल एक ही है; ऋषिगण उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।'

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
१।१६४।४६

—

धर्म के जीते जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण

डाक्टर रामधारीसिंह दिनकर, संसद सदस्य, नई दिल्ली

स्वामी दयानन्द से परमहंस रामकृष्ण की भेंट हुई थी। स्वामीजी स्वयं रामकृष्ण के पास नहीं गये थे, वही स्वामीजी के कलकत्ता पधारने पर उनसे मिलने आये थे। रामकृष्ण के मन पर इस भेंट का जो प्रभाव पड़ा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है—"दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्षःस्थल सदैव आरक्त दिखाई पड़ता था। वे वैखरी अवस्था में थे। रात-दिन लगातार शास्त्रोंकी ही चर्चा किया करते थे। अपने व्याकरण-ज्ञान के बलपर उन्होंने अनेक शास्त्र-वाक्यों के अर्थ में उलट-फेर कर दिया है। 'मैं ऐसा करूँगा, मैं अपना मत स्थापित करूँगा' ऐसा कहने में उनका अहंकार दिखाई देता है।" ❀

इसी प्रकार, बहुत से बंगाली ब्रह्मसमाजी विद्वान् परमहंस रामकृष्ण के अनुगत थे। ब्रह्म समाजियों के सिर मौर केशवचन्द्र सेन तो परमहंस जी के परम भक्तों में से थे। केशवचन्द्र सेन परमहंस रामकृष्ण के आश्रम में अक्सर जाया करते थे और रामकृष्ण भी जब-तब

❀ श्रीरामकृष्णलीलामृत, पहला भाग।

केशव चन्द्र सेन के घर या उनके ब्रह्म मन्दिर में पधार जाते थे। एक बार रामकृष्ण ब्रह्म मन्दिर में पहुँचे, तो वहाँ उपासना चल रही थी। रामकृष्ण ने वहाँ जो कुछ देखा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है— "ईश्वर के ऐश्वर्य का बहुत समय तक वर्णन करके वक्ता महाशय बोले, 'अच्छा' अब आइये, हम सब ईश्वर का ध्यान करें।' मैं समझा, अब वे लोग बहुत समय तक ध्यानस्थ रहेंगे। पर हुआ क्या ? दो मिनट में ही उनका ध्यान समाप्त हो गया। इस प्रकार के ध्यान से कहीं ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है ? उन लोगों के ध्यान करते समय मैं सभी के चेहरे की ओर देख रहा था और ध्यान समाप्त होने के बाद मैं केशव से बोला, तुममें से बहुतों को ध्यानावस्थित देखकर मुझे कैसा लगा, बताऊँ ? वहाँ दक्षिणेश्वर में कई बार भाऊतला की ओर वानरों का

झुण्ड आता है, वे सब वानर कैसे चुपचाप बैठे रहते हैं ! देखनेवाले समझते हैं—अहा, कितने अच्छे हैं ये, इनको लन्द-फन्द, छल-छिद्र कुछ भी मालूम नहीं है, ये कितने शान्त हैं। पर क्या वे सचमुच शान्त रहते हैं छिः, राम का नाम लो। किसके बगीचे में फूल लगे हैं,किसकी बाड़ी में ककड़ी और कुम्हड़ा है, कहाँ इमली है, यही सारे विचार उनके मन में चलते रहते हैं। बस, थोड़ी ही देर में एक दम हुप करके कूदते-फाँदते, वे क्षणार्ध में अदृश्य हो जाते हैं और किसी बगीचे में धड़ाधड़ कूदकर उसका सत्यानाश कर डालते हैं। यहाँ भी मुझे बहुतों का ध्यान

वैसा ही दिखाई दिया।"*

आर्यसमाज और ब्रह्म समाज बड़े ही प्रबल सांस्कृतिक आन्दोलन थे। किन्तु उनकी जो कमजोरियाँ थीं, वे रामकृष्ण को ठीक दिखाई पड़ीं। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द बाल ब्रह्मचारी, निरीह सन्यासी, प्रचण्ड तार्किक और उद्भट विद्वान् थे, किन्तु सन्तों की नम्रता और निरहंकारिता उनमें नहीं थी। ब्रह्मसमाज में तार्किकता अधिक नहीं थी। भक्ति और उपासना का उसमें अच्छा प्रचार था। किन्तु ब्रह्मसमाजी लोग अपने को जितना भक्ति-विह्वल दिखलाना चाहते थे, वस्तुतः उतनी भक्ति-विह्वलता उनमें थी नहीं†। ब्रह्म समाजियों की भक्ति ज्ञान की नोक से उठाई हुई चीज थी। उद्देश्य ब्रह्मसमाजियों का सामाजिक सुधार था, किन्तु अखाड़ा उन्होंने धर्म का चुना था। असल में इसाइयों के मुख से अपने धर्म की निन्दा सुनते-सुनते वे लजा गये थे, किन्तु किसी प्रकार हिन्दुत्व की इज्जत ढँकने के लिये उन्होंने धर्म का एक साधन खड़ा कर लिया था और अपने धर्म पर अचल विश्वास नहीं रहने के कारण वे अधिकाधिक ईसाइयत की ओर ढुलके जा रहे थे। वस्तुतः उनका विश्वास हिन्दू-ईसाई का विश्वास था। ऐसे लोगों में भक्ति

---

* श्रीरामकृष्णलीलामृत, दूसरा भाग।

† ब्रह्मसमाज से प्रेरित काव्य में भी भक्ति और रहस्यवाद का जो रूप उतरा, उसमें सहजता कम, बौद्धिकता अधिक थी।

की आकुलता उत्पन्न कहाँ से होती?

इसके सिवाय, इन आन्दोलनों का एक दोष और था। हिन्दुत्व को निन्दित और आक्रान्त देखकर राम-मोहन राय, दयानन्द और केशव चन्द्र में यह उत्साह जागा कि हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य किया जाना चाहिए। किन्तु जब वे रक्षा को तत्पर हुए तब उन्हें यह दिखाई पड़ा कि हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने के योग्य नहीं है। निदान, ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना, जिसका आख्यान वेदों में मिलता है। अर्थात् जिसमें मूर्तिपूजा नहीं है, जिसमें तीर्थ-व्रत-अनुष्ठान और श्राद्ध का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग, नरक, देवी, देवता कुछ भी नहीं हैं। इसी प्रकार, राममोहन राय ने उपनिषदों का पल्ला थामा और वे अद्वैत को लेकर बैठ गये। किन्तु हिन्दुत्व इतना ही नहीं है। उसके अन्दर उन अनन्त विश्वासों का भी स्थान है, जो अपार हिन्दू जनता के हृदय में घर किये हुए हैं। सच पूछिए तो दयानन्द और राम मोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की, वह हि-न्दुत्व का एक खण्डमात्र था। यही कारण हुआ कि यद्यपि दयानन्द और राममोहन राय ने हिन्दू विचारों की दशा में महान् क्रान्ति उपस्थित की, किन्तु हिन्दू जनता का अत्यन्त विशाल भाग उनकी ओर उत्साह से नहीं दौड़ा। सच पूछिए तो हिन्दुत्व का इससे अधिक

प्रतिनिधित्व श्रीमती एनी बेसेन्ट ने किया, क्योंकि वे शास्त्र, पुराण, स्मृति और गीता, हिन्दुओं के देवी-देवता और उनके द्वारा पूजित अवतार एवं यश-विद्या और परलोक, सबकी ओर से एक समान उत्साह से बोल रही थीं। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि जब थियोसाफी और ब्रह्मसमाज सिमटकर धनियों और विद्वानों की महफिल में बैठे रहे, तब आर्यसमाज का प्रचार समाज के कुछ निम्न स्तरों पर भी हुआ।

किन्तु जिसे सचमुच जनता का मुक्त सहयोग कहते हैं, वह इन तीनों आन्दोलनों में से किसी को भी प्राप्त नहीं हो सका। हिन्दू और थियोसाफी-पण्डित ईसाई और मुस्लिम-पण्डितों से विद्या का विवाद कर रहे थे, किन्तु जनता इस विवाद से रस लेने को तैयार नहीं थी।

भारतवर्ष की परम्परा है कि यहाँ की जनता विद्या से अतंकित नहीं होती। पण्डितों का वह सत्कार करती है, उसकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं हैं। हाँ कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नहीं खुलता, न मोटी-मोटी पोथियाँ रख देने से धर्म किसी के समझ में आता है। दयानन्द और राममोहनराय तथा एनी बेसेन्ट के प्रचारों से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू धर्म निन्दनीय नहीं, वरेण्य है। किन्तु जनता तो यह देखना चाहती थी कि

धर्म का जीता-जागता रूप उसे तब दिखाई पड़ा, जब परमहंस रामकृष्ण (सन् १८३६ से सन् १८८६ ई०) का आविर्भाव हुआ ।

दयानन्द और राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन से रामकृष्ण अनेक बातों में भिन्न थे । दयानन्द भारतीय परम्परा के उद्भट पण्डित और ब्रह्मसमाजी नेता अंग्रेजी ढङ्ग के विद्वान् थे। किन्तु रामकृष्ण बहुत-कुछ अपढ़ मनुष्य थे । दयानन्द, राममोहन राय और केशव सार्व-जनिक जीवन में इसलिये आये थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी, किन्तु रामकृष्ण को किसी भी धर्मवालों के प्रति कोई आक्रोश नहीं था। दयानन्द, राममोहन, और केशवचन्द्र संस्कृत के आन्दो-लनकारी नेता थे, किन्तु रामकृष्ण को आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं था वे अपनी बातें सुनाने को अपने आश्रम से बाहर नहीं गये और न हिन्दुओं से कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है ।

पण्डित और सन्त में वही भेद होता है, जो हृदय और बुद्धि में है। बुद्धि जिसे लाख कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाती, हृदय उसे अचानक देख लेता है। विद्या समुद्र की सतह पर उठती हुई तरंगों का नाम है। किन्तु अनुभूति समुद्र की अन्तरात्मा में बसती है। अनुभूति का एक कण मनोज्ञान से कहीं अधिक मूल्यवान है। परमहंस रामकृष्ण अनूभूतियों के आगार थे और उनके जीवन को देखकर एक बार फिर यह स्पष्ट हो गया

कि जिसे अनुभूति प्राप्त हो जाती है, ज्ञान का द्वार उसके सामने स्वयं उन्मुक्त हो जाता है तथा सारी विद्याएँ उसे स्वयमेव उपलब्ध हो जाती हैं।

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों के सामने विचित्र प्रकार की परिस्थिति थी। हिन्दूधर्म बहुत दिनों से रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जकड़ा चला आ रहा था। किन्तु अब अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार एवं ईसाइयों के कुप्रचार स ये रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे थे। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध अत्यन्त सघन हो चुका था, किन्तु दुर्भाग्यवश तत्कालीन अंग्रेजी साहित्य में नास्तिकता के ओजस्वी विचार भरते जा रहे थे एवं उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक अनुसन्धानों के द्वारा जिन आधिभौतिक सिद्धान्तों का पता चला था, उसने यह भी साहित्यपूर्ण रूपेण व्याप्त था। परिणाम इसका यह हुआ कि अंग्रेजी भाषा के प्रचार के साथ भारत में भी नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अतएव भारतीय सुधारकों के सामने एक नहीं तीन शत्रु थे। १. हिन्दूधर्म की रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास, २. ईसाई मिशनरियों के द्वारा निरन्तर की जानेवाली हिन्दुत्व की निन्दा तथा ३. अंग्रेजी पढ़े, लिखे समाज में नास्तिकता का प्रचार। इन तीन मोर्चों पर लड़ने के लिए जो और साधन अनिवार्य थे, उनका सन्धान इन सुधारकों ने कर लिया था, किन्तु धर्म वास्तव में कैसा होता है, इसका प्रमाण वे नहीं दे सकते थे।

तर्क और पाण्डित्य से धर्म प्रमाणित किया भी नहीं जा सकता है, ठीक वैसे ही, जैसे तर्क और पाण्डित्य से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती है। विशेषत: हिन्दुत्व का मूलाधार विद्या और ज्ञान नहीं, सीधी अनुभूति है। हमारा धर्म पण्डितों नहीं, सन्तों और द्रष्टाओं की रचना है। हम फिलासफी को कुछ नहीं कहके 'दर्शन' कहते हैं, क्योंकि हमारे दार्शनिक सत्य सोचे या समझे नहीं गये थे, प्रत्युत ऋषियों ने आत्मा के चक्षु से उनका दर्शन किया था। वाद-विवाद, तर्क और पाण्डित्य अथवा बड़े-बड़े सिद्धान्तों और संगठनों से धर्म की सिद्धि नहीं होती। धर्म अनुभूति की वस्तु है और धर्मात्मा भारतवासी उसी को मानते आये हैं, जिसने धम के महासत्यों को केवल जाना ही नहीं, उनका अनुभव और साक्षात्कार किया है ।

रामकृष्ण के आगमन से धर्म की यही अनुभूति प्रत्यक्ष हुई। उन्होंने अपने जीवन से यह बता दिया कि धार्मिक सत्य-केवल बौद्धिक अनुमान की वस्तु नही हैं, वे प्रत्यक्ष अनुभव के विषय हैं और उनके सामने संसार की सारी तृष्णाएँ, सारे सुख-भोग तृणवत् नगण्य हैं।

यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उन्नीसवीं सदी का हिन्दू-जागरण केवल ईसाइयत से हिन्दुत्व की रक्षा के प्रश्न तक सीमित नहीं था, प्रत्युत भारत के शिक्षित नास्तिकों के प्रसंग में उसका यह भी उद्देश्य था कि धर्म

पर से शिक्षितों की हिली हुई श्रद्धा फिर से स्थिर बनाई जाय। धर्म और ईश्वर के अस्तित्व को लेकर आज भी बड़े-बड़े विवाद चलते हैं। किन्तु इन विवादों से उभय पक्ष में से एक को भी शान्ति नहीं मिलती। ईश्वरवादी चाहे जितने भी तर्कों का सहारा ले, किन्तु ईश्वर-सिद्धि के लिए उसके सारे तर्क नगण्य सिद्ध होते हैं। और निरीश्वरवादी पंडित भी चाहे जितने तर्क निकालकर यह सिद्ध करे कि ईश्वर नहीं है, अतएव धर्म की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये, किन्तु उसके अन्तर्गत में एक विरल शंका बनी ही रह जाती है कि क्या यह सारी सृष्टि आकस्मिक घटना के सिवा और कुछ नहीं है। पश्चिम के एक अभिनव विचारक[1] ने ठीक ही कहा है कि "ईश्वर की परिभाषाएँ लुप्त होती जा रही हैं, मूर्तियाँ डगमगा रही हैं और प्रतीक टूटकर बिखरते जा रहे हैं, किन्तु तब भी मनुष्य का अगोचर अस्तित्व बराबर उभरना चाहता है, वह बराबर किसी अतल गहराई में से बाहर आने को बेचैन है।" एक अन्य चिन्तक ने[2] भी कहा है कि "तीन कारणों से मैं नास्तिक नहीं हूँ। पहला कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकता का सिद्धान्त अनुर्वर और रूढ़ि ग्रस्त होता है। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकों का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से नकारात्मक होता है। और तीसरा कारण यह है कि

१. O. B. Frothingham. २. J. H. Holmes.

नास्तिकता किसी भी मर्म का उद्घाटन नहीं कर सकती, किन्तु सृष्टि का तकाजा है कि इसके रहस्यों का उद्घाटन किया जाय।"

किन्तु सृष्टि के रहस्य बुद्धि से उद्घाटित नहीं होते। इसके लिये एक विचित्र प्रकार की शक्ति अपेक्षित होती है, जो पंडित नहीं, सन्त के साथ आती है। सहजानुभूति ज्ञान से अधिक शक्तिशालिनी वस्तु है। विज्ञान की छड़ी ने सृष्टि के रन्ध्र-रन्ध्र में प्रवेश करके मनुष्य को यह तो बता दिया है कि अब कहीं भी कोई तत्त्व अविश्लिष्ट नहीं है। फिर भी, एमर्सन की यह अनुभूति जब कानों में पड़ती है कि "प्रकृति का परदा अत्यन्त झीना और महीन है। सर्वत्र विद्यमान प्रभु की सत्ता इस परदे के तार-तार से झाँक रही है। ऐ मेरे भाइयो, ईश्वर का अस्तित्त्व है प्रकृति के केन्द्र में एक आत्मा बसती है, मनुष्य के इच्छा के ऊपर एक देवता का वास है। आत्मा के प्रत्येक कार्य में ईश्वर और मनुष्य का मिलन हो रहा है।" तब भावुक मनुष्य अगोचर अस्तित्त्व के इस आभास से चौंके बिना नहीं रहता!

जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दू ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रश्न पर लड़ रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नहीं, तब परमहंस रामकृष्ण ने सभी धर्मों के मूलतत्वको अपने जीवन में साकार करके, मानो, सारे विश्व को यह संदेश दिया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के

लिये प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जाने वाले अनेक मार्ग हैं। और जो उनका उपदेश था, उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा। उन्होंने हिन्दुत्त्व के सभी मार्गों की साधना की। यही नहीं, वे कुछ दिन सच्चा मुसलमान बन कर इस्लाम की भी साधना करते रहे और कुछ काल तक उन्होंने इसाइयत का भी अभ्यास किया था। भारतवर्ष की धार्मिक समस्या का जो समाधान रामकृष्ण ने दिया है, उससे बड़ा और अधिक उपयोगी समाधान और कोई नहीं हो सकता। क्रम-क्रम से वैष्णव, शैव, शक्त, तांत्रिक, अद्वैतवादी, मुसलमान और ईसाई बनकर परमहंस रामकृष्ण ने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्मों के बाहरी रूप तो केवल बाहरी रूप हैं। उनसे मूल तत्त्व में कोई फर्क नहीं पड़ता है। साधन और मार्ग अनेक हैं। उनमें से मनुष्य किसी को भी चुन सकता है। प्रतिष्ठा मार्ग नहीं, अनुभूति के कारण होती है। जब तक तुम अनुभूति की ऊँचाई पर हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

परम हंस रामकृष्ण उस ऊँचाई के मनुष्य थे, जहाँ से सभी धर्म सत्य और सब के सब समान दीखते हैं। जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुँचती, जहाँ धर्म अपनी राजनीतिक एवं समाजिक गन्ध को छोड़ कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहें। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे जिसके दो-एक छींटों से ही जन्म-

जन्म की तृष्णा शान्त हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित ऐसे महापुरुष का चरित है, जो जीवन के अन्तिम सत्य एवं अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के आमने-सामने खड़ा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और सन्त पृथ्वी के वासी थे एवं पृथ्वी ही से ऊपर की ओर उठे थे,. किन्तु राम कृष्ण दैवी अवतार की भाँति आये, पृथ्वी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आये। दृश्य की ओर से चलकर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसाफिस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आकर परमहंस रामकृष्ण ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। भारतीय जनता की पाँच हजार वर्ष पुरानी धर्मसाधना रूपी लता पर राम कृष्ण सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनन्त ऋषियों और सन्तों की कथाएं सुनी जाती हैं, वे झूठ नहीं हैं।

रामकृष्ण में आकर ही वे देवी-देवता, पौराणिक आचार और अनुष्ठान, धर्म-की विविध साधनाएँ एवं जनता के अनेक धार्मिक विश्वास भी सत्य हुए, जिनकी ओर से बोलने का साहस किसी भी सुधारक को नहीं हुआ था। अन्य सभी सुधारक नवीन भारत के प्रतिनिधि थे, यद्यपि सत्य उन्होंने प्राचीन भारत का ही अपनाया था, किन्तु

रामकृष्ण के रूप में भारत की सनातन परम्परा ही देह धरकर खड़ी हो गयी।

रामकृष्ण न तो अंग्रेजी जानते थे. न वे संस्कृत के ही जानकार थे, न वे सभाओं में भाषण देते थे, न अखबारों में वक्तव्य। उनकी सारी पूँजी उनकी सरलता और उनका सारा धन महाकाली का नाम-स्मरण मात्र था। दक्षिणेश्वर की कुटी में एक चौकी पर बैठे-बैठे वे उस धर्म का आख्यान करते थे, जिसका आदि छोर अतीत की गहराइयों में डूबा हुआ है और जिसका अन्तिम छोर भविष्य के गह्वर की ओर फैल रहा है। घर बैठे उन्हें गुरु पर गुरु मिलते गये। अद्वैत साधना उन्होंने महात्मा तोतापुरी से ली जो स्वयं उनकी टीमें आ गये थे। तंत्र-साधना उन्होंने एक भैरवी से पायी, जो स्वयं घूमते-फिरते दक्षिणेश्वर तक आ पहुँची थी। इसी प्रकार,इस्लामी साधना के उनके गुरु कोई गोविन्दराय थे, जो हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और ईसाइयत की साधना उन्होंने शंभुचरण मल्लिक के साथ की थी, जो ईसाई धर्म-ग्रन्थों के अच्छे जानकार थे। किन्तु सभी साधनाओं में रमकर धर्म के गूढ़ रहस्यों की छानबीन करते हुए भी काली के चरणों में उनका विश्वास अचल रहा। जैसे अबोध बालक स्वयं अपनी चिन्ता नहीं करता, उसी प्रकार रामकृष्ण अपनी कोई फिक्र नहीं करते थे। जैसे बालक प्रत्येक वस्तु की याचना अपनी माँ से करता है, वैसेही रामकृष्ण भी हर चीज काली से माँगते थे और हर काम उनकी आज्ञा से करते थे। यह नव

युग के मनुष्यों के सामने पोंगा-पंथी कहानी-सी लगती है, किन्तु यह लिखित इतिहासकी घटना है। स्वयं तोतापुरी जब दक्षिणेश्वर आये,तब रामकृष्ण में कुछ अलभ्य लक्षण देखकर उन्होंने सहसाकहा कि 'क्या तू अद्वैत की साधना करेगा'? रामकृष्ण बोले, 'मैं कुछ नहीं जानता। माता से पूछकर अभी आता हूँ। यदि उन्होंने आज्ञा दी, तो अवश्य करूँगा।' तोतापुरी ने समझा, इसकी सचमुच की कोई माँ होगी। किन्तु रामकृष्ण जब मंदिर में जाकर लौट आये, और कहा कि माता की आज्ञा है, तो तोतापुरी को महान् आश्चर्य हुआ कि कोरी प्रतिमा में इसकी ऐसी अटल आस्था है!

हिन्दू धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, परम हंस रामकृष्ण उसकी प्रतिमा थे। उनकी इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से उनके वश में थीं। रक्त और मांस के तकाजों का उनपर कोई असर न था। सिर से पाँव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी। वे दिन-रात परमार्थ-चिन्तन में निरत रहते थे। सांसारिक सुख-समृद्धि, यहाँ तक कि सुयश का भी उनके सामने कोई अस्तित्व नहीं था।

साधना करते-करते शरीर को उन्होंने इतना शुद्ध कर लिया था कि वह ईश्वरत्व का निर्मल यंत्र हो गया था और सांसारिकता के स्पर्श मात्र से उसमें विचित्र प्रति-क्रियाएँ उत्पन्न होने लगती थीं। रुपये, पैसे, सोने, चाँदी, आदि का स्पर्श वे सह नहीं सकते थे और यह कोई बहाने

बाजी या ढोंग नहीं था। विवेकानन्द होने के पूर्व नरेन्द्र बड़े ही शंकालु व्यक्ति थे। उन्हें रामकृष्ण अपनी ओर खींच रहे थे और वे बार-बार उनसे भागना चाहते थे। रामकृष्ण रुपये-पैसे को नहीं छूते, द्रव्य के स्पर्श मात्र से उन्हें पीड़ा होने लगती है, इस बात की जाँच करने के लिए उन्होंने एक दिन चोरी-चोरी परमहंस जी के बिस्तर के नीचे एक रुपया रख दिया। रामकृष्ण लौटकर जो सदा के अनुसार बिस्तर पर बैठे, तो उन्हें ऐसा लगा, मानो बिच्छू ने डंक मार दिया हो और वे उचक कर खड़े हो गये। लोगों ने चारों ओर देखा, मगर कहीं भी कोई चीज नहीं थी। निदान, उन्होंने बिस्तर हटाकर नीचे देखा, तो क्या देखते हैं कि उसके नीचे एक रुपया पड़ा है। सब लोग अकचकाए हुए थे। केवल विवेकानन्द अचरज के मारे गम्भीर थे। रामकृष्ण उनकी शैतानी को लख गये और बोले, 'ठीक है रे, गुरु की जाँच जी-भर कर लेनी चाहिए।'

द्रव्य की यह वितृष्णा उनमें बढ़ती ही गयी। अन्त समय तो ऐसा हो गया कि हाथ में कपड़ा लपेटे बिना वे काँसे के बर्तन को भी नहीं छू सकते थे। निदान, उनका खान-पान मिट्टी के ही बर्तनों में चलने लगा था।

रामकृष्ण एक ऐसे संन्यासी हुए हैं, जो अन्त समय तक अपनी धर्मपत्नी के साथ रहे। गृहत्याग उन्होंने विवाह के बाद किया था। और सच पूछिये तो विधिवत् उन्होंने गृहत्याग किया भी नहीं था, क्योंकि सिद्धावस्था

आने पर भी वे अपने गाँव गये और वहाँ अपने परिवार के साथ वैसे ही घुल-मिल कर रहे, जैसे गृहस्थ को रहना चाहिए। इसी यात्रा के बाद उनकी पत्नी दक्षिणेश्वर में उनसे आ मिलीं एवं परमहंसजी ने उन्हें अपने साथ रखने में तनिक भी आना-कानी नहीं की। उनकी माता वहीं दक्षिणेश्वर मठ के नौबतखाने में रहती थीं। उन्हीं के पास रामकृष्ण ने अपनी पत्नी को भी रख दिया। किन्तु पत्नी के साथ उनका शारीरिक सम्बन्ध नहीं हुआ, यह सभी विवरणों से विदित होता है। श्रीरामकृष्ण लीलामृत नामक जो रामकृष्ण का जीवन-चरित्र है, उससे अच्छा जीवन-चरित्र मैंने और नहीं देखा वह हर रोज की लिखी डायरी पर आधारित जीवनी है एवं उसका प्रत्येक विवरण सत्य मालूम होता है। उसमें लिखा है कि "एक दिन उनके पैर दबाते-दबाते माताजी ने (रामकृष्ण की पत्नी ने) उनसे एकाएक पूछा, 'मुझको आप कौन समझते हैं?" श्रीरामकृष्ण बोले, जो माता उस काली मन्दिर में है, वही इस शरीर को जन्म देकर अभी नौबतखाने में निवास करती है और वही यहाँ पर इस समय मेरे पैर दबा रही है। तुम मुझे सचमुच ही, सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में दिखाई देती हो।"

ऐसा लगता है कि रामकृष्ण प्रकृति के प्यारे पुत्र थे और प्रकृति उनके द्वारा यह सिद्ध करना चाहती थी कि जो मानव-शरीर भोग का साधन बन जाता है, वही

चाहे तो त्याग का भी पावन यंत्र बन सकता है। द्रव्य का त्याग उन्होंने अभ्यास से सीखा था, किन्तु अभ्यास के क्रम में उन्हें द्वन्द्वों का सामना करना नहीं पड़ा। हृदय के अत्यन्त निश्छल और निर्मल रहने के कारण वे ईश्वर की ओर संकल्प-मात्र से बढ़ते चले गये। काम का त्याग भी उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। लिखा है कि "एक दिन अपनी पत्नी को अपने समीप ही सोती हुई देखकर अपने मन को सम्बोधित करते हुए श्रीरामकृष्ण विचार करने लगे, 'अरे मन, इसी को स्त्री शरीर कहते हैं। सारा संसार इसी को परम भोग्य वस्तु मानकर उसकी प्राप्ति के लिए सदा लालायित रहकर अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु इसके ग्रहण करने से देहासक्ति में सदा के लिए फँस जाने से सच्चिदानन्द ईश्वर को प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। हे मन, सच-सच बोल, भीतर एक और बाहर दूसरा, ऐसा मत रख, तुझे यह शरीर चाहिए कि ईश्वर चाहिए? यह शरीर चाहिए तो यह देख,वह यहाँ तेरे पास ही पड़ा है, इसे ग्रहण कर।' ऐसा विचार करके रामकृष्ण ज्यों ही अपनी पत्नी के शरीर का स्पर्श करने वाले थे कि उनका मन कुंठित होकर उन्हें इतनी गहरी समाधि लग गयी कि रात भर उन्हें देह की सुधि नरही।" अन्यत्र अपनी पत्नी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा है,—

"वही (पत्नी) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती,तो हमारे संयम

का बाँध टूटकर मन में देहबुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, यह कौन कह सकता है ?"

नानक और कबीर ये विवाहित थे और पत्नी के साथ रहकर ही उन्होंने धर्म की सिद्धि की थी। इनमें से काम पर किसकी क्या प्रतिक्रिया रही, इसका लेखा-जोखा उपलब्ध नहीं है। हाँ, कबीर का एक दोहा चलता है:—

नारी तो हमहूँ करी, तब ना किया विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी महा विकार॥

किन्तु रामकृष्ण ने नारी की ऐसी निन्दा कभी नहीं की। अपनी पत्नी की तो उन्होंने प्रशंसा ही की है। हाँ, काम-भोग को साधना की बाधा वे भी मानते थे और उनका भी उपदेश यही था कि नर-नारी एक दूसरे से अलग रहकर ही अध्यात्मके मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने एक बार कहा था, "उन दिनों तो मुझे स्त्रियों से डर लगता था।...अब वह अवस्था नहीं रही। अब मैंने मन को बहुत-कुछ सिखा पढ़ा कर इतना कर लिया है कि स्त्रियों की ओर आनन्दमयी माता के भिन्न भिन्न रूप जानकर देखा करता हूँ। तो भी, यद्यपि स्त्रियाँ जगदम्बा के ही अंश है, तथापि साधक-साधु के लिए वे त्याज्य ही हैं।"

कामिनी और कांचन के विषय में किसकी क्या दृष्टि है तथा इनके आकर्षण से कौन कहाँ तक बचता है यही वह कसौटी है, जिस पर भारतीय महापुरुषों की जाँच होती आयी है। रामकृष्ण इस कसौटी पर खरे उतरे।

उन्होंने पत्नी को अपने साथ रहने दिया, उन्हें अपनी साधना के पथ पर आगे बढ़ाया, इससे यह भी प्रकट होता है कि नारियों के प्रति उनके मन में कोई घृणा या द्वेष नहीं था।

रामकृष्ण के अद्भुत गुणों से आकृष्ट होकर तत्कालीन बड़े-बड़े तार्किक और विद्वान् उन्हें घेरे रहते थे। इनमें ऐसे नवयुवक भी थे, जो नास्तिक थे, जो शंकालु थे, जो साधु-सन्तों के चमत्कारों को ढोंग समझते थे। किन्तु रामकृष्ण के सामने शंकाओं के उठने या टिकने का सवाल ही नहीं था। न तो वे चमत्कार दिखाकर लोगों को प्रभावित करते थे, न किसी से अस्तिकता-नास्तिकता को लेकर विवाद। उनका जीवन उन्मुक्त ग्रन्थ था और धर्म के लक्षण वे मुख से नहीं कहकर अपने आचरणों से बताते थे। फिर आँखों-देखी बात पर शंका होती क्यों?

वे, प्रायः, अपढ़ मनुष्य थे, किन्तु साधना के कारण वे उस मूल उत्स पर पहुँचे हुए थे, जहाँ से सभी ज्ञान उठकर ऊपर आते हैं, जहाँ से दर्शनों की उत्पत्ति और धर्मों का जन्म होता है। इसीलिए, उनके उपदेश विद्वान् और अविद्वान् सभी के लिए ग्राह्य हैं, वे सबकी समझ में आते हैं एवं जिसमें उड़ने की जितनी शक्ति है, वह उन्हें लेकर उतनी दूर उड़ सकता है। उनके वचनामृत की धारा जब फूट पड़ती थी, तब बड़े से बड़े तार्किक अपने आप में खोकर मूक हो जाते थे। केशवचद्र सेन से एक बार रामकृष्ण ने कहा, "केशव! तू अपनी वक्तृता के

द्वारा सभी को हिला देता है मुझे भी तो कुछ बता।”
केशवचन्द्र इसपर नम्रता से बोले,‘मैं क्या लोहारकी दुकान में सुई बेचने आऊँ ? आप ही कहते जाइए। मैं सुनता हूँ आपके ही श्री मुख की दो-चार बातें मैं लोगों को बताता हूँ, जिन्हें सुनकर वे गद्गद् हो जाते हैं। बस, यही मैं करता हूँ।”

उनके विषय-प्रतिपादन की शैली ठीक वही थी, जिसका आश्रय भारत के प्राचीन ऋषियों तथा पार्श्वनाथ बुद्ध और महावीर ने लिया था तथा जो परम्परा से भारतीय सन्तों के उपदेश की पद्धति रही है। वे तर्कों का सहारा कम लेते थे। जो कुछ समझाना होता, उसे उपमाओं और दृष्टान्तों से समझाते थे सन्त सुनी-समझी बातों का आख्यान नहीं करते, वे तो आँखों-देखी बातें कहते हैं, अपनी अनुभूतियों का निचोड़ दूसरों के हृदय में उतारते हैं।

देह और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ हैं, इस सिद्धान्त को समझाते हुए उन्होंने कहा, “कामनी काँचन की आसक्ति यदि पूर्णरूप से नष्ट हो जाय,तो देह अलग है और आत्मा अलग है, यह स्पष्ट रूप से दीखने लगता है। नारियल का पानी सूख जाने पर जैसे उसके भीतर का खोपरा (गरी) नरेटी से खुलकर अलग हो जाता है, खोपरा और नरेटी दोनों अलग-अलग दीखने लगते हैं (वैसे)। या जैसे म्यान के भीतर रखी हुई तलवार के विषय में कह सकते हैं कि म्यान और तलवार दोनों भिन्न चीज हैं, वैसे ही देह और

आत्मा के बारे में जानो।"

प्रतिमा-पूजन का भी ईश्वराराधन में वास्तविक महत्त्व है। इस विचार को समझाने के लिये वे कहते, "जैसे वकील को देखते ही अदालत की याद आती है, उसी तरह प्रतिमा पर से ईश्वर की याद आती है।"

"माया ईश्वर की शक्ति है, वह ईश्वर में ही वास करती है। तब क्या ईश्वर भी हमारे समान ही माया बद्ध है?" इस गुत्थी को सुलझाने के लिए वे कहते, "अरे, नहीं रे भाई! वैसा नहीं है। ...यही देखो न? सर्प के मुँह में सदा विष रहता है। उसी मुँह से वह खाता-पीता है, पर वह स्वयं उस विष से नहीं मरता।"

मनुष्य-मनुष्यमें कोई भेद नहीं है,इस शिक्षा को समझाने का ढंग यह था कि "मनुष्य मानो केवल तकिये के गिलाफ हैं। गिलाफ जैसे भिन्न-भिन्न रंग और आकार के होते हैं, वैसे ही मनुष्य भी कोई सुरूप कोई कुरूप कोई-साधु कोई दुष्ट होता है। बस इतना ही अन्तर है। पर जैसे सभी गिलाफ में एक ही पदार्थ—कपास भरा रहता है, उसी के अनुसार सभी मनुष्यों में वही एक सच्चिदानन्द भरा हुआ है।"

ईश्वराराधन का व्यावहारिक मार्ग बताते हुए वे कहते, "जब तुम काम करते होओ, तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान् के पाँव पकड़े रहो। जब काम समाप्त हो जाय, तो भगवान् के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ लो।"

संकल्प-शुद्धि के लिए उनका उपदेश था, "अभागा मनुष्य ही यह मानता है कि मैं पापी हूँ। ऐसा सोचते-सोचते वह पापी हो भी जाता है।"

तर्कों से वे बहुत घबराते थे। कहते, "शास्त्रार्थ को मैं नापसंद करता हूँ। ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे है। मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि जो कुछ है वह ईश्वरमय है। फिर तर्कों से क्या फायदा। बगीचों में तुम आम खाने जाते हो न कि पेड़ों के पत्ते गिनने। फिर मूर्ति-पूजा, पुनर्जन्म और अवतारवाद को लेकर यह विवाद क्या चलता है?"

बुद्धि का तो अविश्वास वे करते ही थे, सहज ज्ञान पर भी उनकी अचल श्रद्धा नहीं थी। सहज ज्ञान के द्वारा बुद्धि की सीमा का अति क्रमण किया जाता है। किन्तु बुद्धि के परे की अनुभूति वाली भूमि में सहज ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। तब तो ईश्वरीय कृपा का ही एक मात्र प्रकाश बच जाता है। इसलिए वे कहा करते थे कि पाँव में एक काँटा गड़ जाय, तो उसे दूसरे काँटे से निकालना होता है। किन्तु काँटे के निकल जाने पर दोनों काँटों को ही फेंक देना चाहिए।

परिपक्व मनुष्य जाति भेद को नहीं मानता, यह समझाने को रामकृष्ण कहा करते थे कि ताड़ और खजूर को देखो न! आरम्भ में कितने पत्ते लिये रहते हैं। किन्तु उनके खूब बढ़ जाने पर क्या होता है? व्यर्थ के सारे बोझ झड़ जाते हैं और कुछ थोड़े से पत्ते ही शेष रह जाते हैं।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की प्रशंसा करते हुए बोले पक्का विद्वान् कभी भी अहंकार नहीं दिखाता। आलू सिद्ध होने पर नर्म हो जाता है।

विद्वत्ता और पांडित्य के साथ वे मनुष्य में शील और सदाचार भी चाहते थे। अनुशासन और नैतिकता से विहीन विद्वानों के लिए उनमें आदर का भाव नहीं था। कहते, विद्या की बड़ी शक्ति है लेकिन केवल विद्या से क्या होगा? गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता तो है, मगर आँख उसकी बराबर मरी पर लगी रहती है। बहिर्मुखी विद्वान् समुद्र के समान होता है। परन्तु वरुण देव को पता ही नहीं कि उनके भीतर कितनी चीजें छिपी हुई हैं। बहुत से अमीर अपने सभी नौकरों के नाम भी नहीं जानते, न उन्हें यही पता होता है कि कौन चीजें कहाँ रखी हैं!

संसार में रहते हुए परमार्थ की साधना कैसे करें, इस विषय में उपदेश देते हुए वे कहते, कटहल छूने के पहले उँगली में तेल लगा लिया करो। मन दूध है और दुनिया पानी। दूध को पहले जमा लो, फिर उसका मन्थन करो। तब जो मक्खन निकलेगा, वह पानी में नहीं घुलेगा।

धन मनुष्य के जीवन का ध्येय नहीं होना चाहिए, इस उपदेश को वे यों रखते थे कि धन से क्या मिलता है? भोजन, वस्त्र और मकान, मगर इनसे ऊँची चीजें धन से नहीं मिल सकतीं। इसलिए जीवन का उद्देश्य धन नहीं हो सकता।

विनोद प्रियता रामकृष्ण में कूट-कूट कर भरी थी

और उनके विनोद मार्मिक होते हुए भी बड़े ही आनन्द-दायी होते थे। एक बार केशवचन्द्र सेन ब्रह्मसमाज की व्यासगद्दी से प्रार्थना कर रहे थे। प्रार्थना करते-करते उन्होंने एक वाक्य कहा कि हे प्रभो ! हमें अपने आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न कर लो। प्रार्थना के बाद किसी दूसरे प्रसंग में रामकृष्ण ने कहा, अरे केशव ! आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न होने की प्रार्थना बेकार है। तुम्हारे आँगन में तो साड़ियाँ सूखती हैं। तुम्हारे लिए यही उचित है कि समुद्र में एक डुबकी लगाकर फिर बाहर आ जाओ।

नरेन्द्रनाथ (आगे चलकर विवेकानन्द) दिन में दो बार प्रार्थना करते थे। एक दिन एक पद गाते-गाते वे बोले, "भजन साधन तार करो रे निरन्तर" रामकृष्ण एकदम बोल उठे, "छिः, ऐसा मत कह। उसके बदले 'भजन-साधनतार करो रे दिने दुबारे' ऐसा कह ! अपने को जो कभी करना ही नहीं है, उसे जोर-जोर से कहने से क्या मतलब ?"

केशवचन्द्र सेन से वे अक्सर मजाक करते थे। कभी कहते, "तेरी पूँछ झड़ गयी है। जब तक पूँछ नहीं झड़ जाती, तब तक मेंढक पानी से बाहर नहीं निकलता, पर जब पूँछ झड़ जाती है तब वह पानी में भी रह सकता है और पानी से बाहर भी रह सकता है।" कभी कहते, "केशव, तुम वह पक्षी हो जिसकी दुम में पत्थर बँधा है। यह पक्षी समाधि में जा सकता है, मगर बाल-बच्चे उसे नीचे खींच लेते हैं।"

ब्रह्म-समाज बँटकर दो पक्षों में विभक्त हो गया था, किन्तु उसके दोनों पक्षों के लोग रामकृष्ण के यहाँ आते-जाते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि केशवचन्द्र अपने कुछ अनुयायियों के साथ रामकृष्ण के पास बैठे हुए थे कि विजयकृष्ण भी अपने अनुगामियों के साथ आ पहुँचे। ऐसी अचानक भेंट हो जाने से दोनों पक्षवालों को संकोच-सा होने लगा। यह बात रामकृष्ण की दृष्टि में में आते ही वे बोले, "सुनिए! एक बार ऐसा हुआ कि भगवान् शंकर और श्री रामचन्द्र में कुछ विवाद हो गया और दोनों में युद्ध होने लगा। अब शंकर के गुरु राम और राम के गुरु शंकर होने के कारण, युद्ध समाप्त होने पर, उन दोनों में पूर्ववत् मैत्री होने में देरी नहीं लगी। पर शंकर की सेना के भूत-प्रेतों और राम की सेना के बानर-रीछों की मैत्री नहीं हुई। इसीलिए कहता हूँ कि जो होना था सो गया। अब कम से कम तुम दोनों के मन में तो एक-दूसरे के प्रति परस्पर वैर-भावना या वैमनस्य नहीं रहे। और यह भाव यदि रहे, तो रहने दो अपने बानर-रीछों और भूत-प्रेतों में।"

ऐसा था वह मनुष्य, जिसने भाषण और वक्तव्य दिये बिना तथा सभा-सम्मेलनों में शास्त्रार्थ किये बिना केवल अपने आचरणों और अपनी अनुभूतियों से यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दुत्व का केवल वेद-उपनिषद वाला ही नहीं बल्कि यह रूप भी सत्य है जिसका आख्यान

पुराणों एवं सन्तों को जीवनियों में मिलता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि रामकृष्ण के भीतर से हिन्दुत्व ने अपनी रक्षा अन्य धर्मों को पछाड़ कर नहीं, प्रत्युत उन्हें अपना बनाकर की। हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर रामकृष्ण को श्रद्धा एक समान थी। क्योंकि बारी-बारी से सबकी साधना करके उन्होंने एक ही सत्य का साक्षात्कार किया था।

रामकृष्ण का नाम उनके जीवन-कालमें भी दूर-दूर तक पहुँचा था। किन्तु उनके देहान्त के बाद तो उनके उपदेशों को स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार फैलाया कि संसार के कोने-कोने में उनका नाम गूँज गया। उनकी जीवनी मैक्समूलर ने लिखी थी। फिर जीवन चरित्र रोम्याँ रोलाँ ने प्रकाशित किया। गाँधी जी का वचन है कि रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आये हुए जीवित धर्म की कहानी है। कहते हैं, केशवचन्द्र सेन के समय ब्रह्मसमाज में भक्ति और साधना का जो प्रचलन हुआ, वह ब्रह्मसमाजियों की रामकृष्ण से संगति का परिणाम था। प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी साधक और विद्वान् आचार्य प्रतापचन्द्र मजूमदारने लिखा है कि "श्रीरामकृष्ण के दर्शन होने के पूर्व, धर्म किसे कहते हैं, यह कोई समझता भी नहीं था। सब आडम्बर ही था। धार्मिक जीवन कैसा होता है,यह बात रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर जान पड़ी।" आचार्य प्रतापचन्द्र मजूमदार की एक और उक्ति है, जिसके उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धिवादी विद्वानों पर रामकृष्ण के व्यक्तित्व

का कैसा प्रभाव था। प्रतापचन्द्र लिखते हैं,

"उनके और मेरे बीच समानता क्या है ? मैं यूरोपीकृत,सुसभ्य अर्धनास्तिक और तथाकथित सुशिक्षित तार्किक व्यक्ति हूँ, जिसकी सारी चिन्ता अपने ही निमित्त है, और वे निर्धन, अशिक्षित, व्यवहार में भद्दे, मूर्तिपूजक एवं निस्सहाय हिन्दू भक्त हैं। भला मैं उनकी सेवामें घंटों क्यों बैठा करूँ—मैं जिसने डिज़रेली और फाकेट के विचार सुने हैं, जिसने स्टानले और मेक्समूलर की विद्याएँ प्राप्त की हैं, जिसने यूरोप के बीसियों विद्वानों और धर्म पुरुषों के विचारों का पान किया है ? किन्तु केवल मैं ही नहीं, यहाँ तो मेरे-जैसे दर्जनों लोग हैं जो यही करते हैं।.... वे (रामकृष्ण) राम की पूजा करते हैं, शिव की पूजा करते हैं, काली को पूजते हैं और साथ ही वेदान्त में भी उनका अडिग विश्वास है। वे प्रतिमा पूजक हैं, किन्तु निरंजन और निराकार की पूर्णता का ज्ञान कराने में भी उनसे बढ़कर कोई और माध्यम नहीं हो सकता उनका धर्म आनन्द है, उनकी पूजा समाधि है। अहर्निश उनका समस्त अस्तित्व एक विचित्र विश्वास और भावना की ज्वाला से प्रदीप्त रहता है।"*

—"उदयाचल द्वारा प्रकाशित 'संस्कृति के चार अध्याय से' साभार।"

—x—

* 'रामकृष्ण एण्ड स्पिरिचुअल रिनासाँ' (लेखक—स्वामी निर्वेदानन्द) में उद्धृत।

देवमानव स्वामी अद्भुतानन्द

स्वामी जगदीश्वरानन्द

माया के फैले हुए जाल को तोड़कर पूर्ण निष्ठा से आध्यात्मिक जीवन का अंगीकार करनेवाले पुरुष विरले ही होते हैं। यह इन्द्रिय-भोग्य जगत् इतना मोहक है कि मनुष्य के लिए किसी उच्चतर तत्त्व की अभिलाषा से उसके परे देखना लगभग असम्भव-सा ही है। लक्ष-लक्ष लोगों में कदाचित् कोई विरला पूर्णत्व प्राप्त करने की इच्छा रखता है और ऐसे मुमुक्षुजनों में भी अन्त तक पूरे उत्साह और लगन के साथ अपने ध्येय में लगे रहने वाले व्यक्ति बहुत थोड़े ही होते हैं फिर भी हमारे जीवन में ऐसे महापुरुष आते हैं—भले ही उनकी संख्या अत्यल्प हो—जिनका जीवन भटकती मानवता के लिए आलोक स्तम्भ स्वरूप होता है। वे देवमानव होते हैं। वे आध्यात्मिकता की पताका को ऊँचे फहराकर रखने के लिए इस जगतीतल पर आविर्भूत होते हैं।

स्वामी अद्भुतानन्द ऐसे ही एक देवमानव थे। वे सचमुच ही 'यथा नाम तथा गुण' को चरितार्थ करते थे। वे यथार्थ अर्थों में एक अद्भुत पुरुष थे। उनका विवेक, उनका वैराग्य अपूर्व था! उनका जीवन प्रार्थना और ध्यान का सुदीर्घ मौन था। ईश्वर ही उनके सर्वस्व थे। ईश-चिन्तन, ईश-कीर्तन और ईश-श्रवण के अतिरिक्त उन्हें जीवन में और कोई रुचि न थी। उनके संन्यास-

जीवन के लगभग चालीस वर्ष के सुदीर्घ अरसे में ऐसी कोई रात नहीं आयी, जब वे सोये हों! दोपहर में विश्रान्ति लेकर वे अपने प्रमास्पद भगवान् के ध्यान में रात्रि-यापन करते थे। जो संसार के लिए दिन था, वह उनके लिए रात्रि थी और संसार की रात्रि उनके लिए दिन था। उनका जीवन भगवत्सेवा में नियुक्त आत्म-समर्पण और भक्ति का अविच्छिन्न स्रोत था। वे सच्चे अर्थों में भगवान् में रहते थे, उन्हीं में चलते-फिरते थे। उनका समूचा व्यक्तित्व भगवान् में ही केन्द्रित था। वे सही अर्थों में नींद को जीतने वाले गुडाकेश थे। कहते हैं कि कलियुग में मनुष्य के प्राण अन्नगत हैं। पर उनके लिए इस अन्न का भी कोई आकर्षण नहीं रह गया था। जीवन की निम्नतर प्रवृत्तियों को उन्होंने कभी भी ऊपर उठकर जीवन को दबाने का मौका नहीं दिया। जिन लोगों ने उन्हें देखा और उनके सम्पर्क में आये, उन सबके लिए उनका जीवन प्रेरणा की लपट थी। वे मूक की तरह मौन थे, पर उनका जीवन उनके अधरों की अपेक्षा अधिक क्रियाशील था।

स्वामी अद्भुतानन्द लाटू महाराज के नाम से विख्यात थे। वे श्रीरामकृष्ण के उन अन्तरंग शिष्यों में से थे जिन्होंने उनके सन्देश के अनुरूप अपने जीवन का गठन करने तथा उस सन्देश का प्रचार करने के हेतु अपना घर-बार सब कुछ छोड़ दिया था। वे उन तीन व्यक्तियों में से थे, जो गुरुदेव के चरणों में अपने जीवन का उत्सर्ग कर देने के लिए सबसे पहले गृहत्यागी हुए थे। इन तीनों

ने ही सर्वप्रथम उस संन्यासी-संघ का बीजारोपण किया, जिसने बाद में चलकर उनके गुरुदेव के नाम पर एक पूर्ण विकसित संगठन का रूप धारण किया। लाटू महाराज छोटी उम्र में श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आये थे। श्रीरामकृष्ण ने अज्ञान-निद्रा में सोयी हुई उनकी आत्मा को जगाया और उनमें आध्यात्मिकता की ज्वाला को प्रदीप्त कर दिया। तब से वह ज्वाला अखण्ड रूप से जलती रही, उत्तरोत्तर प्रखर होती रहीं और अन्त में उसने उनके समूचे व्यक्तित्व को अपने में समेट लिया। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'यदि तुम मेरे गुरुदेव का जादू देखना चाहते हो, तो लाटू के जीवन की ओर देखो। मैंने वैसा और कहीं नहीं देखा है।' लाटू अपने गुरुदेव की ही अनुकृति थे।

लाटू के घर का नाम राखतूराम था। वे बिहार के छपरा जिले के किसी छोटे से गाँव में निर्धन परिवार में जन्मे थे। उनका पिता एक गरीब गड़रिया था। लाटू बचपन में ही अनाथ हो गये। उनके काका ने उन्हें पाला-पोसा। छोटी उम्र में ही वे नौकरी की खोज में कलकत्ता चले आये और श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ शिष्य रामचन्द्र दत्त के यहाँ नौकर हो गये। बालक लाटू रामचन्द्र के घर से श्रीरामकृष्ण के लिए फल-फूल ले जाता और इस प्रकार वह दक्षिणेश्वर के महापुरुष के सम्पर्क में आया। श्रीरामकृष्ण ने पहली ही दृष्टि में लाटू की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परख लिया और उसे आशीर्वाद दिया।

उनके दर्शन के पहले लाटू ने गेरुआधारी संन्यासी के रूप में उनकी कल्पना की थी, पर जब उसने श्रीरामकृष्ण को सफेद वस्त्रों में देखा, तो उसे आश्चर्य हुआ। पहले ही दिन श्रीरामकृष्ण ने उससे आत्मीयता के साथ बातचीत की। वे उसे अपने कमरे में ले गये, मिठाइयाँ दीं और अनेक विषयों पर उससे वार्तालाप किया। उसे, पता नहीं क्यों, श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में बहुत आनन्द का अनुभव हुआ। यद्यपि दक्षिणेश्वर कलकत्ते का ही एक मुहल्ला है, पर वह शहर से बहुत दूर है। इसीलिए शाम को जब लाटू घर वापस लौटने लगा, तो श्रीरामकृष्ण ने उसे पैदल जाने से मना किया। उन्होंने उसे अपने पास से पैसा ले जाने के लिए कहकर बग्घी या नौका में जाने का आदेश दिया। पर लाटू के पास पैसा था। अतः उसने श्रीरामकृष्ण से कुछ न लेकर उन्हें उनकी सहृदयता के लिए धन्यवाद दिया। जाने के समय श्रीरामकृष्ण ने उसे पुनः आने के लिए कहा। लाटू ने हाँ कहकर बिदा ली।

लाटू महाराज के बचपन की बातें ज्ञात नहीं हैं। उन्होंने किसी को उस सम्बन्ध में नहीं बताया। अपने कुल या पूर्वजों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाने पर वे कोई उत्तर नहीं देते थे। यहाँ तक कि अपने साधु जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ बताना उन्हें पसन्द न था। एक प्रकार से उनकी जीवन घटनाओं से रहित था। उनका जीवन एक भाव में ही केन्द्रित रहा और वे एक ध्यान में ही डूबे रहे, वह था अपने गुरुदेव का ध्यान। पहले ही दिन से श्रीरामकृष्ण से वे बड़े ही प्रभावित हुए

थे और उनकी ओर खिंच गये थे। रामचन्द्र बहुधा बालक लाटू को श्रीरामकृष्ण के पास फल और मिठाई आदि ले जाने का काम दिया करते। अत: उसे श्रीरामकृष्ण के दर्शन करने के बहुत से अवसर प्राप्त होते थे। पहले ही दिन की भेंटसे लाटू ने दक्षिणेश्वर के इस महापुरुष को अपना हृदय-देवता बना लिया था। एक दिन वह ऐसे समय मन्दिर पहुँचा, जब श्रीरामकृष्ण भोजन के लिए बैठे ही थे। लाटू बिना खाये गया था, अतः श्रीरामकृष्ण ने उसे भोजन के लिए बुलाया। पर लाटू इस सम्बन्ध में बड़ा कट्टर था; उसने भोजन करना स्वीकार नहीं किया और कहा कि बंगाली ब्राह्मणों के हाथ का पकाया उसे नहीं चलता। इस पर श्रीरामकृष्ण ने केले का पत्ता मँगवाया और उस पर भोजन परोसने के लिए कहा। उन्होंने लाटू से कहा कि वह कालीमाता का पवित्र प्रसाद है, अत: उसे ग्रहण करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। लाटू तब भी हिचकता रहा। श्रीरामकृष्ण ने उसपर और भी जोर डालते हुए उसे प्रसाद ग्रहण करने के लिए कहा। श्रीरामकृष्ण पर लाटू की अगाध श्रद्धा-भक्ति थी इसलिए उसने कहा कि उनका (श्रीरामकृष्ण) प्रसाद ग्रहण करने में उसे कोई आपत्ति नहीं है। इसपर श्रीराम-कृष्ण ने अपनी थाली से कुछ भोजन निकालकर उसे दिया, जिसे लाटू ने सहर्ष ग्रहण किया।

गुरुदेव के निर्देशानुसार लाटू महाराज अपने आध्यात्मिक जीवन के गठन में पूरी तरह जुट गये। एक

दिन श्रीरामकृष्ण ने भावावस्था में आकर उनकी छाती को स्पर्श कर दिया और उनकी छिपी हुई आध्यात्मिक शक्तियों को जाग्रत् कर दिया। लाटू आनन्द के अतिरेक में सिसकने लगे। रामचन्द्र उस समय वहीं पर उपस्थित थे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बताया कि अब तक लाटू की आध्यात्मिक शक्ति का फुहारा बन्द था जो आज खोल दिया गया। पर श्रीरामकृष्ण ने लाटू को उस स्थिति में अधिक देर न रहने दिया। लाटू का छाती का पुनः स्पर्श करके उन्होंने लाटू की आध्यात्मिक विह्वलता बन्द कर दी और इस प्रकार उनकी आध्यात्मिकता की प्यास को अनन्तगुना बढ़ा दिया। श्रीरामकृष्ण एक अलौकिक गुरु थे और अधिकारी साधकों को परम सत्य के दर्शन करा दे सकते थे। उन्होंने विवेकानन्द प्रमुख-अपने सभी शिष्यों को सत्य के दर्शन कराये थे। वे एक दैवी पारसमणि थे। उनके सम्पर्क से कई लोगों का जीवन आमूल परिवर्तित हो गया। लाटू अपने गुरुदेव के प्रति उत्तरोत्तर अधिक श्रद्धावान् होने लगे। कभी-कभी उनकी सेवा करने और अमृत तुल्य वाणी सुनने के लोभ से लाटू उनके पास दो-तीन दिन रह जाया करते थे। इसी प्रकार कुछ समय तक चलता रहा। एक दिन रामचन्द्र के पास लाटू की आध्यात्मिकता की प्रशंसा करते हुए श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा कि वे लाटू को दक्षिणेश्वर में उनके पास स्थायी रूप से रहने की अनुमति दे दें। रामचन्द्र ने इसे अपना बड़ा सौभाग्य माना और सहर्ष श्रीरामकृष्ण की बात को

स्वीकार कर लिया। लाटू के आनन्द का ठिकाना न रहा।

इस प्रकार लाटू का पुनर्जन्म हुआ। श्रीरामकृष्ण के साहचर्य से उनके नये जीवन का प्रारम्भ हुआ। श्रीरामकृष्ण की सेवा के हेतु अपने जीवन को उत्सर्ग कर देने वाले संसार-त्यागी पवित्रात्मा तरुणों में लाटू प्रथम थे। उनके लिए श्रीरामकृष्ण 'एक स्नेही पिता थे। लाटू उनके निजी सेवक बने और बड़ी भक्ति के साथ उनकी सेवा की। जैसे श्रीरामचन्द्र के लिए हनूमान थे,वैसे ही श्रीरामकृष्ण के लिए लाटू। लाटू उनकी चरणसेवा करते,शरीर में तेल मलते, नहाने में उनकी सहायता करते, उनके कपड़े धोते और ऐसे ही अन्य दूसरे कार्य करते। श्रीरामकृष्णकी धर्मपत्नी 'माताजी' उस समय नौबत-खाने में रहती थीं। उनका लाटू पर संतानवत् प्रेम था। लाटू उनके लिए घर के सारे काम-काज भी कर दिया करते थे दिन पर दिन लाटू आध्यात्मिक जगत् के रहस्यों में अधिकाधिक गहरे उतरने लगे और ईश्वर के चिन्तन में अपने आपको सर्वथा निमग्न कर देने लगे। शास्त्रग्रन्थों के अनुसार गुरु ईश्वर की कल्याणी शक्ति के जीते जागते विग्रह हैं, इसलिए शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह गुरुको सदैव नर रूप में नारायण देखे। लाटू ने वास्तव में यही किया और इसीलिए गुरुदेव की सेवा उनके लिए ध्यान के ही समान थी उनकी गुरुभक्ति इतनी प्रगाढ़ थी कि गुरु के शब्द उनके लिये दैवी निर्देश की अपेक्षा भी अधिक मूल्यवान् थे।

श्रीरामकृष्ण ने लाटू को धीरे-धीरे आध्यात्मिक साधना के उच्चतर रहस्यों में दीक्षित किया और अपने गुरुदेव के पुनीत सान्निध्य में लाटू तीव्र गति से आगे बढ़ने लगे। लाटू कीर्तन के बड़े प्रेमी थे, भक्ति-गीतों के प्रति उनका विशेष आग्रह था। जब वे कलकत्ता में रामचन्द्र दत्त के घर पर नौकरी करते थे, तब यदि रास्ते से कोई कीर्तन-पार्टी गुजर जाती, तो वे पागल के समान दौड़कर उसमें शामिल हो जाते। काम-काज सब कुछ बिसर जाते थे। काम-काज के प्रति ऐसी उपेक्षा के कारण उन्हें अक्सर ही ताड़नाएँ मिलतीं। पर वे भी लाचार थे। दक्षिणेश्वर में भजन-कीर्तन प्रायः ही होते रहते थे। वे बड़े उत्साह के साथ ऐसे कार्यक्रमों में भाग लेते और भावातिरेक से नाचा करते थे। श्रीरामकृष्ण ने लाटूकी कीर्तनके समयकी भावविह्वलता को लक्ष्य किया और जगन्माता से प्रार्थना की कि वह दयापूर्वक लाटू को कुछ आध्यात्मिक अनुभव-दर्शन आदि प्रदान कर दें। जगन्माता ने श्री रामकृष्ण की प्रार्थना शीघ्र सुन ली और लाटू को ध्यान के समय आध्यात्मिक भावावस्था प्राप्त होने लगी। लाटू बिलकुल अपढ़ थे। उन्हें न लिखना आता था, न पढ़ना। अतः श्री रामकृष्ण की इच्छा थी कि लाटू कम से कम कुछ लिखना और पढ़ना सीख लें। उन्होंने स्वयं बालक लाटू को बंगाली वर्णमाला सिखाना आरम्भ किया। पर लाटू बिहारी थे। उनके उच्चारण बड़े विचित्र होते थे। उनका उच्चारण सुनकर श्रीरामकृष्ण हँसी से लोट-पोट हो जाते

थे। श्रीरामकृष्ण ने कई बार निष्फल प्रयत्न किये और अन्त में निराश होकर उन्हें पढ़ाने का कार्य छोड़ देना पड़ा। लाटू की शिक्षा की इति नहीं हो गयी।

एक दिन श्रीरामकृष्ण के कुछ भक्त 'गोलोक धाम' नामक खेल खेल रहे थे। गोलोक स्वर्ग का नाम है। कुछ भक्तों की गोटियाँ नरक में पड़ गयीं, जिससे उन्हें दुःख हुआ। श्रीरामकृष्ण भी खेल देख रहे थे। उन भक्तों के दुःख से उन्हें भी दुःख हुआ। लाटू की गोटियाँ पहली ही बार में 'संसार' को पार कर गयीं और 'गोलोक' पहुँच गयीं। लाटू के आनन्द की सीमा न रही। वे हर्षातिरेक से नाचने लगे। खेल में भी मुक्ति का मिल जाना उनके लिए बड़ी आनन्ददायक कल्पना थी। यह देखकर श्री-रामकृष्ण ने कहा, 'देखो' मुक्ति की कल्पना मात्र से उसे कितना आनन्द हो रहा है! यदि उसकी गोटियाँ स्वर्ग में न पड़तीं, तो उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचती। जो ईश्वर पर पूरी तरह निर्भर हैं, उन्हें जीवन के किसी भी क्षेत्र में पराजय नहीं मिलती।' संसार-जाल से मुक्त होने की भावना लाटू के मन में इतनी तीव्र थी कि खेल में भी उसकी प्राप्ति से वे हर्ष से झूम उठे। मनुष्य की बलवती इच्छा अनजान में ही उसके विचारों,शब्दों और कार्यों में प्रकट होती है। किसी महात्मा ने ठीक ही कहा है, 'भात पका है या नहीं यह देखने के लिए ऊपर का एक दाना दबाकर देखना ही पर्याप्त है।'

लाटू अपने गुरुदेव के दैवी सान्निध्य में दृढ़ता पूर्वक

आध्यात्मिकता के उच्चतर सोपानों पर आरूढ़ होने लगे। श्रीरामकृष्ण स्वयं प्रायः ही भक्तिपरक गीत गाया करते थे। उनको सुनकर लाटू को भावावेश हो आता था। श्रीरामकृष्णकी वाणी केवल अनुप्राणित ही नहीं करती थी, वरन् हृदय के कोने-कोने को आलोकित भी कर देती थी। उपनिषदों ने ठीक ही कहा है कि आप्तवाक्य अन्तर्ज्ञान और अनुभूति दोनों ही प्रदान करते हैं। लाटू के मन का एक भाग सर्वदा अन्तर्मुख रहता था। जब वे अकेले रहते तो ऐसा लगता मानो वे ध्यान में निमग्न हों। एक दिन जब वे अकेले, हाथ से सिर को थामे, गम्भीर ध्यानावस्था में चुपचाप बैठे थे, तो श्रीरामकृष्ण ने उन्हें देखकर कहा था, 'लगता है जैसे शिव वहाँ बैठे हों!' लाटूको दैवी नशा इतना शीघ्र चढ़ जाता कि वे प्रायः बाह्यज्ञान भुला बैठते थे। उनके इस आध्यात्मिक उन्माद ने उनके लिए एक सेवक की आवश्यकता उपस्थित कर दी। ध्यान उनके लिए स्वाभाविक हो गया। रात्रि या दिन का अधिकांश भाग वे गम्भीर ध्यान में ही डूबे रहते। अतः श्रीरामकृष्ण की परिचर्या तक वे नहीं कर पाते थे।

उनका श्रीरामकृष्ण पर कैसा अगाध प्रेम था यह लेखनी नहीं बता सकती। प्रातःकाल किसी दूसरे व्यक्ति का चेहरा देखने के पहले वे श्रीरामकृष्ण का मुख देखते थे। उन्हें आशंका थी कि यदि किसी दिन भूल से वे पहले किसी दूसरे व्यक्ति का चेहरा देख लें, तो वह दिन व्यर्थ जायगा। एक दिन सुबह वे श्रीरामकृष्ण के कमरे में

नित्य नियमानुसार गये। पर श्रीरामकृष्ण वहाँ न थे। वे शौच के लिए गये हुए थे। लाटू ने शिशुवत् सरलता से अपनी हथेलियों से आँखें मूँद लीं और चिल्ला उठे, 'गुरु महाराज, आप कहाँ हैं? कृपा करके इधर आइए, जिससे मैं पहले आपका पावन मुखड़ा देख लूँ और शुभ घड़ी से दिन का कार्य आरम्भ करूँ।' श्रीरामकृष्ण शौच के बाद घूमने के लिए निकल जाते थे। अतः वे लाटू की आवाज न सुन पाये। अतः लाटू कमरे के बाहर निकल आये और पहले की अपेक्षा भी अधिक जोर से चिल्ला उठे। श्रीरामकृष्ण ने लौटते हुए लाटू की आवाज सुनी और कहा, 'ठहरो, बेटा, मैं आता ही हूँ।' श्रीरामकृष्ण जब समीप चले आये, तब लाटू ने अपनी आँखें खोलीं और उनका चेहरा तुष्टि और हर्ष से चमक उठा।

स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिम से लौटकर जब रामकृष्ण मिशन का कार्य प्रारम्भ किया, तो लाटू महाराज उसमें अपना हाथ बँटाने के लिए राजी न हुए। वे अपने जीवन के अन्तिम दिन तक आध्यात्मिक साधनाओं में लगे रहे। उनका जीवन इतना अद्भुत था और आध्यात्मिक जीवन के प्रति उनका अनुराग इतना तीव्र था कि उन्हें 'अद्भुतानन्द' नाम दिया गया। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, 'हमारे गुरुदेव मौलिक थे। हममें से प्रत्येक को मौलिक बनना होगा। अन्यथा व्यर्थ है हमारा जीवन!' उन्होंने स्वामी अद्भुतानन्द की मौलिकता की विशेष सराहना करते हुए कहा था, "लाटू ने अपेक्षाकृत अल्प अवधि में

ही परमहंस की उच्च स्थिति प्राप्त कर ली है। उसे प्रारम्भ में कैसी स्थितियों का सामना करना पड़ा है, जब कि हम लोगों का जीवन अनुकूल परिस्थतियों .में से बढ़ा है। यदि हम उसकी परिस्थितियों की तुलना अपनी से करें, तो देखेंगे कि वह हम लोगों से कहीं अधिक महान् है। हम लोगों ने प्रतिष्ठित और सुसंस्कृत परिवारों में जन्म लिया, उच्च शिक्षा पायी और परिष्कृत बुद्धि लेकर हम गुरुदेव के पास आये। लाटू तो एकदम अपढ़ था। जब कभी आध्यात्मिक साधनाओं में हमें नीरसता-सी लगती, तो ग्रन्थों का अध्ययन कर या अन्य किसी प्रकार से हम उस नीरसता को दूर कर लेते। पर लाटू के लिए तो ऐसा कोई आधार नहीं था, ऐसी कोई दिशा नहीं थी, जिस ओर वह थोड़ी देर के लिए अपने मन को मोड़ देता। उसे अपना सारा जीवन केवल एक ही भाव को लेकर बिताना पड़ा है। केवल जप और ध्यान के सहारे ही वह परमहंस की उच्च स्थिति को प्राप्त हुआ है। यह प्रमाण है उसकी छिपी आध्यात्मिक शक्ति का और गुरु महाराज की उस पर असीम कृपा का।"

जब लाटू पहले-पहल दक्षिणेश्वर में रहने आये, तो दिन को उन्हें बहुत से काम करने पड़ते थे। अतः शामको ही वे सो जाते। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने यह देख लिया और उनकी भर्त्सना करते हुए कहा, "यह क्या है रे? यदि तू शाम से ही सोने लगा, तो ध्यान कब करेगा? ध्यान के लिए सन्ध्या का समय उत्तम माना गया है।"

बस, इतना पर्याप्त था। उस दिन से लाटू ने रात को सोना ही छोड़ दिया और अपने जीवनकी अन्तिम घड़ी तक उन्होंने अपने इस नियम का पालन किया। अपने जीवन भर वे गुरुदेव की आज्ञा का मन-क्रम-वचन से पालन करते रहे। वे दोपहर में नींद ले लेते और सारी रात ध्यान में बिताते थे।

लाटू महाराज की एक विशेषता थी—उन्होंने किसी से घृणा नहीं की। वे सबके साथ समान रूप से हृदय खोलकर मिलते, चाहे वे साधु हों या पापी। उनमें अपने संन्यासी होने का तनिक भी अभिमान न था। उनके पास आबाल वृद्ध सभी आते, उनके मधुर सामीप्य का आनन्द उठाते और उनसे फल-फूल, मिठाई आदि पाकर अपने को धन्य समझते। वे सभी को प्रार्थना, समर्पण-भाव और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के अभ्यास के लिए उत्साहित करते। यद्यपि वे अपनी मातृभाषा में भी शास्त्र ग्रन्थ नहीं पढ़ पाते थे, पर दूसरों से वह सब सुनना उन्हें बहुत पसन्द था। वे एकाग्रचित्त से वेद, वेदान्त, पुराणों और अन्य धर्मग्रन्थों के पाठ सुना करते। शास्त्रों का मर्म वे बड़ी सरलता से समझ लेते थे। एक दिन एक संयासी कठोपानेषद् के निम्नलिखित श्लोक का पाठ कर रहे थे—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वात् शरीरात् प्रवृहेत्
मुंजादिवेषीकां धैर्येण॥ (२।३।१७)

—'वह पुरुष (जीवों का) अन्तरात्मा है, अँगूठे के आकार का है और सर्वदा जीवों के हृदयदेश में स्थित है। जैसे मूँज से सींक को अलग किया जाता है, उसी प्रकार धैर्यपूर्वक उस पुरुष को देह से अलग करना चाहिए।' यह सुनना ही था कि लाटू महाराज बोल उठे, "हाँ-हाँ, ठीक ऐसा ही है। मैं हृदय से इस तथ्य को समझता हूँ।" उन्होंने बड़ी प्रमाणिकता के साथ उपयुक्त बात कही, क्योंकि उन्हें उस तत्व की अनुभूति हो चुकी थी। उनकी आत्मा शरीर और मन के बन्धनों को तोड़ चुकी थी, वह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के जाल को तोड़कर, सत्-चित्-आनन्द की पूर्ण गरिमा में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वे धर्म और दर्शन की जटिल गुत्थियों को ऐसी खूबी से समझा देते थे कि उनकी विद्वतापूर्ण व्याख्या को सुनकर विद्वान् और उच्च शिक्षितजन आश्चर्यमें पड़ जाते थे। यहाँ तक कि पण्डितजन भी विवाद-ग्रस्त प्रश्नों की मीमांसा के लिए उनके पास दौड़े आते थे। पण्डित विष्णु तर्करत्न कहा करते थे कि निरक्षर लाटू महाराज की आध्यात्मिक वार्ता बड़ी ही उद्बोधक हुआ करती थी। उन्होंने कहा था, "जब मैंने लाटू महाराज को सुना, तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनके गुरुदेव उनके माध्यम से बोल रहे हैं।" बंगाली रंगमंच के जनक गिरीशचन्द्र घोष श्रीरामकृष्ण के प्रमुख गृही शिष्यों में से थे। एक समय उन्होंने लाटू महाराज के सम्बन्ध में कहा था, "मेरी आँखों ने अब तक लाटू महाराज के समान निष्कलंक साधु नहीं देखा है।

उनका सान्निध्य ही लोगों को पवित्र और उन्नत बनाता है। उनकी कृपा से लाखों लोगों का आध्यात्मिक कल्याण होगा। गृहस्थ और संन्यासी दोनों ही इस भगवत्प्रेम में पागल महापुरुष के जीवन से महान प्रेरणा प्राप्त करेंगे।"

श्रीरामकृष्ण के जीवन काल में ही लाटू ने दक्षिणेश्वर में आध्यात्मिक जीवन की सर्वोच्च स्थिति-समाधि-की अनुभूत कर ली थी। एक दिन वे समाधि में इतने गहरे लीन हो गये कि श्रीरामकृष्ण उन्हें प्रकृतिस्थ करने के लिए बड़ी देर तक उनकी छातीको अपने घुटने से मलते रहे। संसार-भाव लाटू के मन से यहाँ तक मिट गया था कि उन्हें कोई कार्य करना बड़ा कठिन सा हो गया। एक समय श्रीरामकृष्ण के निर्देश से वे जदु मल्लिक के बगीचे में केले के पत्ते काट लाने गये, पर कैसा आश्चर्य! वे पेड़ के नीचे ही समाधि में निःस्पन्द और बाह्यज्ञान शून्य हो गये! अब पत्ते कौन काटे? वे संसार को ही जो बिसर गये! केले-पत्तों के बिना भोजन में देरी होने लगी। श्रीरामकृष्ण ने लाटू का नाम लेकर जोरों से पुकारा, पर कोई उत्तर न मिला। कौन किसे सुने! लाटू इस संसार में रह ही नहीं गये थे। अन्त में निरुपाय हो श्रीरामकृष्ण स्वयं बगीचे की ओर गये और देखा कि लाटू पत्थर की मूरत के समान वहाँ खड़े हैं! तब उन्होंने अपने पैरों से लाटू के पैरों को दबाया और उनके शरीर को झटका दिया। तब कहीं लाटू प्रकृतिस्थ हुए। एक और घटना है। लाटू एक दिन कहीं गायब हो गये। श्रीरामकृष्ण उन्हें खोजते-

खोजते हैरान हो गये। अन्त में उन्होंने आश्चर्य से देखा कि लाटू बिल्ववृक्ष के नीचे पंचमुण्डी आसन पर गहरी समाधि में निमग्न बैठे हैं। इसी आसन पर बैठकर श्रीरामकृष्ण ने विभिन्न साधनाएँ की थीं। श्रीरामकृष्ण ने यह भी देखा कि दो अपरिचित कुत्ते मालूम नहीं कहाँ से आकर लाटू की रक्षा कर रहें हैं!

लाटू का अपने गुरुभाइयों पर बड़ा गहरा प्रेम था। वे कहा करते थे, "मुझे लाखों जन्म मिलें, कोई परवाह नहीं, यदि मुझे ऐसे गुरुभाई मिलते रहे। मेरे गुरु के शिष्य केवल मेरे इसी जीवन के नहीं वरन् पर-जीवन के भी सगे-सम्बन्धी हैं।" श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के पश्चात् लाटू दिन का समय गंगा के तीर पर ध्यान करने में बिताया करते और रातको वे भोजन करने बसुमति प्रेस चलेजाया करते थे। इस प्रेस के स्वामी श्रीरामकृष्ण के बड़े भक्त थे। लाटू महाराज स्वयं को अपने गुरुभाइयों से इतना अभिन्न अनुभव करते थे कि स्वामी विवेकानन्द के अचानक देह-त्याग से उनका इतना उत्तम स्वास्थ्य भी ऐसा टूटा कि फिर अन्त तक सुधर न सका। उन्होंने एक संन्यासी को गुप्त रूप से बताया था कि उनके स्वास्थ्य के बिगड़ने का यही एक मात्र कारण था, अन्य कुछ नहीं। वे बसुमति प्रेस के मालिक श्री उपेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय से कुछ पैसे लेते, चपाती और दाल खरीदते और खा लेते। अन्त में उन्होंने श्रीरामकृष्ण के एक दूसरे शिष्य बलराम बसु के यहाँ रहने का निश्चय किया। बलराम बसु के लड़के ने

उनसे अपने घर रहने की प्रार्थना की और कहा कि वे अपनी इच्छानुसार भोजन ग्रहण कर सकते हैं। उन्हें समय पर ही भोजन परोसा जाता और उसको ग्रहण करना या न करना उनकी इच्छा पर छोड़ दिया गया था। उन्होंने अपने अहं-भाव को इतना नष्ट कर दिया था कि एक दिन किसी को अपना चित्र पूजते देख वे क्रुद्ध हो उठे और उसकी भर्त्सना करते हुए बोले, "इस तुच्छ शरीर की पूजा करके क्या होगा? पूजा उसकी करो जो इस शरीर में रहता है और जिसकी पूजा मैं भी करता हूँ।" वे धनिकों से मिलते-जुलते नहीं थे। उनका मेल-जोल उन्हीं लोगों से था, जिनकी धार्मिक विषयों में रुचि थी-भले ही वे अपढ़ और निर्धन हों। उन्होंने किसी तीर्थ की यात्रा नहीं की। एक दिन जब वे श्रीरामकृष्ण की चरण सेवा कर रहे थे, तो उनके मन में कुछ तीर्थों के दर्शन का विचार जागा। श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त उनके मन की बात ताड़ ली और उनसे वहीं रहकर साधना में गहरा डूब जाने के लिए कहा। लाटू ने अपने गुरुदेव की बात का अक्षरशः पालन किया। वे एक जंगम तीर्थ थे। वे जहाँ गये, वही तीर्थ बन गया और वहीं धर्मात्माओं की भीड़ लग गयी।

बेलुड़ मठ के प्रतिष्ठित हो जाने पर स्वामी विवेकानन्द अपने संन्यासी गुरुभाइयों के साथ वहीं रहने लगे। कई युवक भी आकर मठ में सम्मिलित हो गये। स्वामीजी ने यह नियम बना दिया था कि ब्राह्म मुहूर्त में चार बजे

ज्योंही घंटी बजेगी, त्योंही सबको उठना होगा और ध्यान में बैठ जाना होगा। एक दिन प्रातःकाल देखा गया कि लाटू महराज कन्धे पर साफी और एक कपड़े का टुकड़ा लिये मठ से बाहर चले जा रहे हैं। बस उतनी ही उनकी सांसारिक पूँजी थी। स्वामीजी ने व्यग्र होकर उनसे पूछा, 'अरे! कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने बताया कि मठ के नये नियमों का पालन उनसे न हो सकेगा अतः वे बाहर चले जा रहे हैं। उनका मन असीम के राग में बँधा हुआ था, इसलिए वह नियमों की सीमा में बँधकर नहीं रहना चाहता था। तब स्वामीजी ने उन्हें समझाया कि वे नियम उनके लिए नहीं अपितु उन नये साधकों के लिए थे। नये साधक प्रारम्भिक अवस्था में थे, अतः उनके लिए इन सब नियमों की आवश्यकता थी। तब कहीं लाटू महाराज लौटे और मठ में रहने लगे। उनके गुरुभाई उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे तथा अन्य नये संन्यासीगण भी उन पर बड़ी श्रद्धा करते थे। उनका जीवन उन सबके लिए आदर्शस्वरूप था। एक समय किसी सज्जन ने उनसे पूछा, 'आपकी अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में क्या धारणा है?' उन्होंने उत्तर दिया, 'क्यों, वे एक महान् आत्मा थे, पूर्ण पुरुष थे।' इस उत्तर से प्रश्नकर्ता को सन्तोष न हुआ। वे बारम्बार उनसे अपने हृदय की बात कहने का अनुरोध करने लगे। प्रश्नकर्ता यह जानना चाहते थे कि क्या श्रीरामकृष्ण ईश्वरीय अवतार हैं? और यदि हैं, तो क्या शास्त्रों में वर्णित

अवतारों में से एक हैं? लाटू महाराज इस बारम्बार के प्रश्न से खीझकर बोले, "यदि तुम्हें मेरी बात का विश्वास नहीं है, तो मुझसे ये प्रश्न पूछना निरर्थक है। क्या इतना नहीं समझते कि वे मेरे ईश्वर हैं, मेरे जीवन के सर्वस्व हैं और उन्हीं के लिए सब कुछ त्यागकर मैंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है!"

लाटू महाराज चालीस वर्ष तक नाममात्र के भोजन पर रहे। उनकी रातें कड़ी तपस्या में बीतती थीं। इस अनिद्रा और अल्पाहार ने उनके स्वास्थ्य को गम्भीर क्षति पहुँचायी। उनका शरीर क्रमशः जीर्ण होने लगा और अन्त में हड्डियों का ढाँचा मात्र बच रहा। अपने जीवन के अन्तिम दिनों वे वाराणसी चले आये और जीवन-दीप के बुझते तक वह विश्वनाथ शिव के पावन चरणों में आश्रय लिये रहे। उन दिनों आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय पर बात करते उन्हें नहीं सुना गया। वे प्रायः ही सुदीर्घ भाव-समाधि में डूबे रहते थे। उन्हें बारम्बार भोजन की याद दिलायी जाती थी। बहुधा भोजन करना तो वे भूल ही जाते थे। रात्रिमें वे दिव्य भावोन्मादमें डूबे रहते। उस समय उनके पास जाने का या उनसे बातचीत करने का किसी को साहस न होता था। एक दिन उनका सेवक उनसे भोजन कर लेने की प्रार्थना करने उनके कमरे में गया,तो विस्मित हो क्या देखता है कि उस महापुरुष के सिर और शरीर के रोयें रोमांचित हो रहे हैं, वे दिव्य दर्शन में विभोर हैं

और उनका मुखमण्डल दिव्य आभा से दमक रहा है। अपने जीवन के अन्तिम दो-तीन वर्ष वे अजीर्ण और अन्य उदर रोगों से प्रबल रूप से आक्रान्त रहे। पर उन्होंने अपनी देह की सुधि न ली। उनकी पीठ पर एक विषाक्त फोड़ा हो गया और उसके कारण उन्हें कठिन दुःख भोगना पड़ा। फोड़े ने धीरे-धीरे और भी भीषण रूप धारण किया और लगातार चार दिनों में उनकी पीठ पर दो या तीन अस्त्रोपचार (आपरेशन) करने पड़े। पर सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि वे उससे तनिक भी विचलित न हुए। उनका देह-बोध सर्वथा नष्ट हो गया था और वे इष्टदेव में अपने 'अहं' को यहाँ तक विलीन कर चुके थे कि किसी भी प्रकार की शारीरिक पीड़ा उनकी मानसिक शान्ति को नष्ट नहीं कर सकती थी। उन्होंने २४ अप्रैल १९२० ई० को वाराणसी में अपनी मर्त्य देह को फेंक दिया और महासमाधि में लीन हो गये।

उनके प्रिय गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द उस समय वहीं उपस्थित थे। उन्होंने अपने एक गुरुभाई को लाटू महाराज के सम्बन्ध में लिखा, "आशा है तुम लोगों को तार से लाटू की मृत्यु का समाचार मिला होगा। मैंने इस प्रकार की मृत्यु और कहीं नहीं देखी। ... लगभग दो वर्ष की लम्बी बीमारी में वे सदैव ध्यानावस्थित रहे। उनकी आँखें हरदम भ्रूमध्य में केन्द्रित रहती थीं। वे संसार के सारे व्यापारों से सर्वथा अलिप्त थे। वे सदा सजग रहते, पर उन्हें किसी समाचार या बाहरी वस्तु से लगाव नहीं

था। एकदिन आपरेशन के बाद जब घाव पर पट्टी बाँध दी गयी, तो उन्होंने मुझ से पूछा कि डाक्टरों का इस रोग के सम्बन्ध में क्या मत है। मैंने उत्तर में उन्हें बताया कि वह और कुछ नहीं, कड़ी तपस्या के फलस्वरूप उत्पन्न शारीरिक शिथिलता है। तुरन्त उन्होंने कहा 'मुझे प्रसन्नता होगी यदि शरीर चला जाय।' मनुष्य के लिए अपनी देह ही तो सबसे प्यारी है, पर उन्हें अपने शरीर के प्रति तनिक लगाव न था। अपने जीवन के अन्तिम कुछ दिन उन्हें खाना भी अच्छा नहीं लगता था। यदि सेवक बहुत आग्रह करता और कहता कि वे अगर न खायें तो वह भी अन्न-ग्रहण नहीं करेगा, तब कहीं वे थोड़ा सा कुछ गटक लेते, मानो रोगी दवा का कड़वा घूँट ले रहा हो। अपने जीवन की अन्तिम रात्रि को उन्होंने अन्न या जल का स्पर्श तक न किया। जब सेवक ने अपने अनाहार रह जाने की धमकी दी, तो उन्होंने सीधा कह दिया, 'मत खाओ।' उनका मन मायाके जाल से छूट चुका था। दूसरे दिन मैं उनके पास गया। देखा कि उन्हें ज़ोरों का बुखार है। नाड़ी नहीं मिलती थी। डाक्टर ने हृदय की परीक्षा की, पर उसकी क्रिया भी गायब थी। शरीर का तापमान केवल १०२.६° डिग्री ही था। वे पूरी तरह सजग थे, पर उनकी बोलने की या कुछ करने की तनिक भी इच्छा नहीं दिखी।...अन्य दिनों की भाँति वे सीधे बैठ नहीं सके। उन्होंने फलके रस की कुछ बूँदें मात्र लीं। दूध लेनेसे उन्होंने इनकार कर

दिया, पर विश्वनाथ शिव का चरणोदक उन्होंने बड़े आनन्द से ग्रहण किया। मैं चार बजे अपराह्न में आने की इच्छा रख उनसे दस बजे सुबह अलग हुआ। उस समय डाक्टर आने वाले थे। सेवाश्रम में आकर भोजन के उपरान्त में थोड़ा लेटा ही था। कि मुझे समाचार मिला कि लाटू महाराज दोपहर को बारह बजकर दस मिनट पर महासमाधि में लीन हो गये। मैं तुरन्त उनके स्थान पर दौड़ा गया। देखा कि वे दाहिनी करवट लिये पड़े हुए हैं, मानो सो रहे हों। मैंने उनकी देह का स्पर्श किया वह तब भी उसी प्रकार गर्म थी, जैसी उनकी मृत्यु के पूर्व ज्वर में थी। उनका मुखमण्डल पूर्ववत् ही शान्ति और आनन्द की आभा चारों ओर बिखेर रहा था। कौन कह सकेगा कि वे चिरनिद्रा में हमसे सदा के लिए बिछुड़ गये!

तीन घन्टे तक भजन-कीर्तन होते रहे। तत्पश्चात् उनकी पूत देह को सजाया गया और उनकी पूजा की गयी। जिस समय उनकी पूजा हो रही थी, उस समय उनके मुखमण्डल पर जो दैवी सौन्दर्य खेल रहा था वह अवर्णनीय है। मैंने उनके चेहरेपर इसके पूर्व इस प्रकार करुणा, आनन्द और शान्ति का भाव कभी नहीं देखा था। जब वे जीवित थे उनके नेत्र अर्धोन्मीलित रहे, पर मृत्यु के उपरान्त वे पूरे खुल गये। अहा! उस समय उनके नेत्र कितने सुन्दर और मोहक थे! दुख की कहीं रेखा तक न थी। जितने लोग वहाँ उपस्थित थे, सभी स्वर्गीय आनन्द से भर-भर गये थे। वह एक अद्भुत दृश्य था, अलौकिक

छटा थी। मानो ईश्वर ने उनके 'अद्भुत-आनन्द' नामकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए ही उस दृश्य को रचा था। इस देवमानव के चरणों में अपना अन्तिम श्रद्धा-अर्घ्य अर्पित करने के लिए हिन्दू और मुस्लिम सभी आये हुए थे। उन्होंने मृत्यु को जीत लिया था, अतः उनकी मृत्यु साधारणजनों की मृत्यु की नाईं न थी उनकी मृत देह को नये कपड़े पहना, नये बिस्तर पर सुलाकर पुण्यतोया भागीरथी के स्नेह पूर्ण अङ्क में छोड़ दिया गया।" वे देव मानव जहाँ से संसार की इस दुःखपूर्ण घाटी में अद्भुत आध्यात्मिक जीवन प्रदर्शित करने आये थे, वहीं लौट गये।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—'प्रबुद्ध भारत' (नवम्बर १६३६)से
साभार।

तिलक का पत्र—

"आपकी कर्म भूमि बंगाल हो और मेरी महाराष्ट्र"

—तिलक के प्रति विवेकानन्द

सन् १८६२ ई० के आस पास शिकागो के प्रसिद्ध-विश्वधर्म सम्मेलन के पूर्व जब मैं बम्बई से पूना लौट रहा था, तो विक्टोरिया टर्मीनस में एक संन्यासी ने मेरे डब्बे में प्रवेश किया। कुछ गुजराती सज्जन उन्हें बिदाई देने आये हुए थे। उन्होंने संन्यासी से मेरा सामान्य परिचय कराते हुए उन्हें अपने पूना-निवास काल में मेरे ही घर रहने को कहा। वे मेरे यहाँ ८-१० दिन रहे। उनका नाम पूछने पर उन्होंने केवल 'संन्यासी हूँ' यही कहा। यहाँ उन्होंने कोई सार्वजनिक भाषण नहीं दिये। घर पर वे प्रायः वेदान्त और अद्वैत दर्शन की चर्चा किया करते थे। वे अधिक सामाजिक होना पसन्द नहीं करते थे। उनके पास एक कौड़ी भी नहीं थी। एक मृगचर्म, दो काषाय वस्त्र एवं एक कमण्डलु ही उनकी सारी संपत्ति थी। उनकी यात्रा के लिए कोई व्यक्ति गन्तव्य स्टेशन के लिए टिकट की व्यवस्था कर देते थे।

महाराष्ट्र में नारियों को पर्दे की प्रथा से मुक्त देखकर स्वामीजी ने यह दृढ़ आशा व्यक्त की थी कि यहाँ के उच्च-वर्ग की विधवाओं के लिए बौद्ध युग के प्राचीन योगियों की तरह धर्म और अध्यात्म के प्रचार के हेतु अपना

जीवन अर्पित कर देना संभव हो सकेगा। मेरी ही तरह स्वामीजी की भी यही धारणा थी कि श्रीमद्भगवद्-गीता त्याग का उपदेश नहीं करती प्रत्युत प्रत्येक को अनासक्त होकर, कर्म-फलासक्ति त्यागकर कार्य करने पर ही बल देती है।

डेक्कन क्लब में

उन दिनों मैं हीराबाग के डेक्कन क्लब का सदस्य था, जिसकी बैठकें साप्ताहिक हुआ करती थी। इसकी एक बैठक में स्वामी जी भी मेरे साथ थे। उस संध्या स्वर्गीय काशीनाथ गोविन्दनाथ ने एक दार्शनिक विषय पर सुन्दर भाषण दिया था। किसी को कुछ कहना शेष न था। किन्तु स्वामीजी ने उठकर धाराप्रवाह अंग्रेजी में विषय के अन्य पक्ष पर भी सारगर्भित भाषण दिया। वहाँ उप-स्थित प्रत्येक व्यक्ति ने उनकी योग्यता का लोहा मान लिया। इसके पश्चात् शीघ्र ही स्वामीजी ने पूना छोड़ दिया

तीन वर्ष पश्चात्

इसके दो या तीन वर्ष पश्चात् शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में महान् सफलता प्राप्त करके विश्व विख्यात बनकर तथा इंगलैण्ड और अमेरिका से भी कीर्ति मंत होकर वे भारत लौटे। जहाँ कहीं भी वे गये, सम्मानित किये गये तथा ऐसे प्रत्येक अवसर पर प्रत्युत्तर में उन्होंने

रोमांचकारी भाषण दिये। कुछ समाचार पत्रों में मैंने उस सन्यासी के चित्र देखे और मुझे उस संन्यासी का स्मरण हो आया, जो दो-तीन वर्ष पूर्व मेरे यहाँ ठहरे थे। मैंने सोचा हो न हो ये वही होंगे। मैंने तदनुसार उनको एक पत्र लिखकर अपने अनुमान की सत्यता जाननी चाही तथा उनसे प्रार्थना की कि कलकत्ते जाते हुए वे कृपया पूना होकर जायँ। स्वामीजी से उत्साहपूर्ण उत्तर मिला, जिसमें उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया था कि वे वही सन्यासी थे और उस समय पूना न आ सकने की असमर्थता के लिए उन्होंने दुःख प्रकट किया था। यह पत्र उपलब्ध नहीं है। १८६७ में केसरी के मुकदमे के अन्त के साथ जब अन्य व्यक्तिगत और सार्वजनिक कागजात नष्ट किये गये, उस समय यह पत्र भी नष्ट हो गया होगा।

उसके पश्चात् जब कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तब मैं कुछ मित्रों के साथ एक बार रामकृष्ण मिशन का बेलुड़ मठ देखने गया। वहाँ स्वामीजी ने हमारा हार्दिक स्वागत किया। हमने चाय ली। चर्चा के मध्य परिहास करते हुए स्वामीजी ने मुझसे कहा था कि अच्छा हो यदि मैं संसार त्यागकर बंगाल में स्वामीजी के कार्य को करूँ और वे महाराष्ट्र जाकर वहाँ अपना कार्य आरम्भ करें। उन्होंने कहा था, 'अपने प्रदेश में व्यक्ति का उतना सम्मान नहीं होता जितना किसी दूरस्थ प्रदेश में।'

"आर्गेनाइज़र" से साभार

स्वामी विवेकानन्द

ओ अमर देश के अमृत पुत्र !
हिन्दू-संस्कृति के उद्गाता ।
सदियों से ओ चिर अभिलाषित !
ओ नव युग के नव निर्माता ॥

तुमसे ही वैदिक ज्ञान बढ़ा—
प्राची से चल, पश्चिम भू पर ।
भौतिकता में ही फँसे हुए,
पश्चिम ने पाये अभिनव स्वर ॥

खाओ पीओ से भी आगे,
जीवन का है कुछ और अर्थ ।
प्रभु को पाना, जीवनादर्श,
जिसके सम्मुख है सभी व्यर्थ ॥

तब जीवन का था यही लक्ष्य,
'नर हूँ, नारायण को पाऊँ' ।
उस 'दिव्य-शक्ति' का साधक बन,
'माँ की महिमा को ही गाऊँ' ॥

पाकर सुमधुर अति दिव्य ज्ञान,
हो गया धन्य पश्चिम का मन।
तन के हित मरने वालों ने,
धो डाला अपना अन्तर-मन॥

ओ धर्मदूत ! ओ ज्ञानदूत !
ओ जन-जन के अध्यात्मदूत !
संहार, स्वार्थ के इस युग में
आओ फिर से ओ तपःपूत !

अब एक बार है आवश्यक,
पशुता का होए शीघ्र अन्त।
अवतार अवनि पर फिर से लो,
हिन्दू जीवन के 'महासन्त'॥

—सुधाकर रामचन्द्र गोळवलकर; एम, ए,
राजकुमार कालेज, रायपुर (म. प्र.)

सुभाष बोस का पत्र—

आधुनिक भारत के जन्मदाता स्वामी विवेकानन्द

('मराठा' के श्री ए० आर० भट्ट को लिखित पत्र से)

आपने स्वामी विवेकानन्द के विषय में जो कुछ लिखा है, वह अत्यन्त रुचिकर है। वास्तव में स्वामीजी के व्यक्तिगत पत्र और व्यक्तिगत चर्चाएँ, जो अब क्रमवार लिपिबद्ध हैं, केवल रुचिकर ही नहीं किन्तु उनके सार्वजनिक भाषणों का लिखित पुस्तकों की अपेक्षा भी अधिक प्रकाशदायी हैं। मैं स्वामीजी के विषय में कुछ लिखने के पूर्व स्वर्गीय आनन्द में विभोर हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसे बहुत ही कम लोग हुए, जो वास्तव में स्वामीजी को समझ सके या उनकी गंभीरता को नाप सके। उन लोगों में से भी सब उन्हें पूरी तरह न समझ सके, जिन्हें स्वामी जी के साथ घनिष्ठता प्राप्त करने का सौभाग्य था। उनका व्यक्तित्व सुसम्पन्न, गंभीर एवं बहुमुखी था। यही वह व्यक्तित्व था, जिसने देशवासियों पर ऐसा अद्भुत प्रभाव डाला था। यह व्यक्तित्व उनके भाषणों और लेखों से कहीं श्रेष्ठ था स्वामी विवेकानन्द अपने त्याग में उन्मुक्त कर्म में अविरत, प्रेम में असीम, ज्ञान में गहन और बहुमुखी, भावनाओं में प्रभूत और असत्य पर

आघात करने में निर्मम थे, अथच उनमें शिशुवत् सरलता थी। ऐसा अनुपम व्यक्तित्व था स्वामीजी का। हमारे इस विश्व में वह एक दुर्लभ व्यक्तित्व था। भगिनी निवेदिता ने अपनी पुस्तक 'दि मास्टर ऐज़ आई सा हिम' में लिखा है-"उनकी आराध्य देवी थी उनकी मातृभूमि।" क्या तुमने उनके पत्रों में पंडितों, पुजारियों, उच्चवर्गके लोगों और धनिकों के प्रति की गई भर्त्सना पढ़ी है? वह भर्त्सना विशुद्ध समाज-वादियों के लिए भी अत्यन्त मूल्यवान होगी।

स्वामीजी धार्मिक छद्म से सर्वथा मुक्त थे। उसकी चर्चा मात्र उनको असह्य थी। धर्मध्वजियों से वे कहा करते थे कि मुक्ति फुटबाल के द्वारा आएगी, न कि गीता के द्वारा। यद्यपि स्वामीजी स्वयं वेदान्ती थे, किन्तु भगवान् बुद्ध के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। एक दिन वे इतने भावविभोर होकर भगवान् बुद्ध के विषय में बोल रहे थे कि कोई पूछ उठा, "स्वामीजी, क्या आप बौद्ध हैं?" रुँधे कण्ठ से उन्होंने कहा था, "क्या? मैं बौद्ध? मैं तो बुद्ध के सेवकों के सेवकों का सेवक हूँ!" भगवान् बुद्ध के सन्मुख वे रजकणवत् विनम्र हो जाते। वे प्रायः कहा करते थे कि हमारा लक्ष्य 'शंकराचार्य की बुद्धि और भगवान् बुद्ध का हृदय' होना चाहिए।

अपने दलित देश वासिओं के लिए उनका प्रेम सागर की तरह अथाह था। क्या तुम्हें उनका वह अमर संदेश स्मरण है, जब उन्होंने कहा था—"बन्धुओ, कहो, नंगा

भारतवासी, अपढ़ भारतवासी, अछूत भारतवासी हमारे भाई हैं। बन्धुओं अपने कण्ठ की पूर्ण ध्वनि से कहो, भारत के देवी-देवता मेरे देवी-देवता हैं। भारत का कल्याण मेरा कल्याण है। और रात-दिन प्रार्थना करो, हे गौरीनाथ, हे शक्तिदायिनी माँ, मेरी दुर्बलताओं को दूर करो, मेरी कापुरुषता को हर लो और मुझे मनुष्य बना दो'।"

स्वामीजीका व्यक्तित्व पूर्ण विकसित पौरुष था। वे जीवन के अंतिम क्षण तक संघर्ष करने वाले योद्धा थे। वे शक्ति के उपासक थे और उन्होने अपने देशवासियों के उत्थान के लिए वेदान्तकी व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की। स्वामीजी प्रायः कहा करते, 'शक्ति, शक्ति; यही उपनिषदों की घोषणा है।' वह सबसे अधिक बल चरित्र-निर्माण पर देते थे।

मैं घंटों लिख सकता हूँ,किन्तु फिर भी उस महापुरुष की गौरव गाथा के प्रति मेरी लेखनी तनिक भी न्याय नहीं कर सकेगी। वे अति महान् और गंभीर थे,सत्य का साक्षात्कार करने वाले एक अति उच्च आध्यात्मिक स्तर के योगी थे,जिन्होंने अपने राष्ट्र और मनुष्यता की नैतिक और आध्यात्मिकउन्नति के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया था। बस, इन्हीं कुछ शब्दों में मैं उनका वर्णन कर पा रहा हूँ। यदि वे जीवित होते, तो मैं उनकी चरणसेवा

में होता। मेरी समझ में वर्तमान भारत स्वामी विवेकानन्द की ही कृति है।

स्वामीजी ने दयानन्द सरस्वती या आर्य समाजियों की भाँति कोई संगठनात्मक कार्य नहीं किया, किन्तु वे कहा करते थे, 'मनुष्य-निर्माण ही मेरा लक्ष्य है।' वे जानते थे कि यदि देश चरित्रवान्, ध्येयवादी लोगों का निर्माण कर सका, तो संगठन तो अविलंब ही हो जायगा। उन्होंने अपने शिष्यों के जीवनगठन के लिए कठोर परिश्रम किया, किन्तु कभी भी उन्होंने उनके व्यक्तित्व को कुण्ठित नहीं किया और न उनके स्वतंत्र चिन्तन में बाधा ही उपस्थित की। एतदर्थ उन्होंने अपने किसी भी शिष्य को अधिक समय तक अपने पास नहीं रखा। वे कहा करते थे कि विशाल वृक्ष की छाया में दूसरा विशाल वृक्ष नहीं पनप पाता। कैसा विरोधाभास है हमारे परवर्तीय कुछ महापुरुषों में, जो स्वतंत्र विचार को सह नहीं सकते, जो चाहते हैं कि हम अपनी बुद्धि को उनके चरणों में रहन रख दें और उन्हें हमारे लिए सब कुछ सोचने का अधिकार दे दें!

"आर्गेनाइज़र से साभार"

वाल्मीकि रामायणकालीन जीवनादर्श

प्राध्यापक रणवीर शास्त्री, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की वीरयुगीन कृति रामायण भारत का राष्ट्रीय आदिकाव्य है। काव्य है, इस कारण 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'[1] किंवा 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[2] इन लक्षण ग्रन्थ संबन्धिनी परिभाषाओं के अनुकूल इस काव्य में मात्र रसात्मकता का अन्वेषण और पोषण शब्द ब्रह्मवेत्ता कवि और उसकी कृति के साथ समुचित न्याय न होगा। कवि की यह कृति एक पुरातन युग की उन जीवनदायिनी परम्पराओं, धारणाओं, आकांक्षाओं और भावनाओं का स्रोत है, जो अधुनातन भारतीय समाज की आधारशिला हैं। स्वयं कवि भारतीय आदर्शों के आदि विधाता हैं। महर्षि बाल्मीकि ने सत्य और धर्मरूपी वट वृक्षों के जो बीज वपन किए हैं, वे आज भी पल्लवित और पुष्पित हो रहे हैं।

काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने लिखा है कि काव्य निर्माण हेतु किसी भी कवि की निम्नलिखित प्रेरक प्रेरणाएँ होती हैं—

× × × ×

---

१. रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं।

२. रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य कहलाता है।

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥'

—काव्य यश के अर्थ, धन के अर्थ, व्यवहार जानने के लिए, अनिष्टनिवारण निमित्त, शान्तिजन्य आनन्द और स्त्री के से मृदुल उपदेश के लिए होता है।

उपर्युक्त प्रेरणाएँ अथवा मनोवैज्ञानिक का क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त किंवा सामाजिक सुदृढ़ मूल्यों की स्थापना कवि की प्रेरकशक्ति रही, इसका स्पष्ट निर्धारण निश्चय पूर्वक नहीं किया जा सकता, तथापि इतना तो ध्रुव है कि कवि केवल तथ्यों और घटनाओं का विवरण नहीं प्रस्तुत करता। इस स्थिति में उसका ऐतिहासिक रूप अधिक निखरता है। कवि अपनी समसामयिक युगचेतना का सजग प्रतीक है तो युगद्रष्टा भी है, युगसापेक्ष्य हो कर युगनिर्माता भी है। लिखित इतिहास अथवा काल के कठोर चरण प्रहार से भग्नशेष इतिहास के ध्वंसों की सीमा तो सीमित है, परन्तु कुज्झटिकाच्छन्न अतीत का निरवगुण्ठ दर्शन कराने में अथच अतीत के सत्य और सुन्दर के साथ शिव का प्रत्यक्ष कराने में कवि की असीम सीमाएँ हैं। यह तथ्य तो सर्व स्वीकृत है कि श्रेष्ठ साहित्य सर्वथा युगजीवन से ग्रथित होता है। अतः आदिकवि वाल्मीकि जिनका 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकःश्लोकत्वमागतः'।

क्रौंच पक्षियों के जोड़े (व्याध द्वारा एक के मारे जाने

के पश्चात्) के विरह से उत्पन्न शोक श्लोकरूप—काव्य या यशरूप—हो गया, मन्त्रद्रष्टा के साथ 'साक्षात्कृतधर्मा' न होंगे यह अकल्पनीय कल्पना है। अभिप्राय यह कि ऋषि ने लक्षणग्रन्थों में प्रतिपादित प्रेरणाओं से अपने काव्य को लिखा हो या न लिखा हो, परन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम के व्याज से सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों की स्थापना तो अवश्य की है। रामायण के संबन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए गीताञ्जलिकार ने अपने एक लेख में कहा है—"उसमें (रामायण में) बाहुबल की दुंदुभी नहीं बजी है। युद्धघटना उसके (रामायण के) वर्णन का मुख्य विषय नहीं है। मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना के लिए ही कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से आज तक मनुष्य के उस आदर्श चरित्र-वर्णन का पाठ भारतवासी अत्यन्त आग्रह और परम आदर के साथ करते आ रहे हैं।"

इस लेख का विवेच्य विषय है "वाल्मीकि-रामायणकालीन जीवनादर्श"। इस प्रसंग में 'आदर्श' शब्द से विशिष्टरूपेण परिचित हो लेना आवश्यक है। किसी भी व्यापक शब्द को, विशेषतः 'आदर्श' को तो, परिभाषा की सीमा में सीमित करना अशक्य है, उसका विश्लेषण ही संभव है। प्रस्तुत परिभाषा अथवा विश्लेषण सर्वमान्य न भी हो परन्तु ग्राह्य होने की संभावनाएँ तो रखता है।

"आनन्दोत्पादक असाधारण महत्त्व, जो उद्दण्ड हृदय को अभिभूत करके पूज्यबुद्धि का संचार करे, आदर्श

होगा।" इस परिभाषा का किंचित् विश्लेषण अप्रासंगिक न होगा। प्रत्येक असाधारण महत्ता आदर्श नहीं। जहाँ एक ओर वह उद्धत को नतमस्तक कर दे तो दूसरी ओर उसमें आनन्दोत्पादक क्षमता भी होनी चाहिए। डाकू या लम्पट की असाधारणता एक बार भले ही हृदय को अभिभूत करे, परन्तु सुरुचि सम्पन्न व्यक्तिमें आनन्दोत्पन्न करके पूज्यबुद्धिका संचार तो कभी नहीं कर सकती।

विवेच्य विषय में एक अन्तर्निहित जिज्ञासा है कि रामायणकालीन आदर्श जीवन अथवा जीवन का आदर्श क्या है। ऐसी ही जिज्ञासा भावुक वाल्मीकि के मस्तिष्क में उठी थी जिसे कवि ने कथामुख में निम्न रूप से उद्धृत किया है :—

को न्वस्मिन् सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैक प्रियदर्शनः॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्॥

अर्थात्, "महर्षि नारद! इस समय संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी और दृढ़ प्रतिज्ञ कौन है? सदाचार से युक्त, समस्त प्राणियों का हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रिय-

दर्शन (सुन्दर) पुरुष कौन है ? मन पर अधिकार करने वाला, क्रोध को जीतने वाला, कान्तिमान् और किसी की भी निन्दा न करने वाला कौन है ? तथा संग्राम में कुपित होने पर किससे देवता भी डरते हैं ? मैं यह सुनना चाहता हूँ। इसके लिए मुझे बड़ी उत्सुकता है और आप इस प्रकार के पुरुष को जानने में समर्थ हैं।" जिज्ञासु कवि की जिज्ञासा के समाधान हेतु महर्षि नारद ने कहा—

मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥

—"मुनि ! उपर्युक्त गुणों से युक्त पुरुष को मैं विचार करके कहता हूँ, आप सुनिए।"

जीवनादर्श से संबद्ध पुनः एक जिज्ञासा यह भी जागृत होती है मन में कि जीवन के किस क्षेत्र का आदर्श ? क्योंकि व्यक्ति के व्यक्तित्व में अनेकत्व है। जहाँ उसका वैयक्तिक अस्तित्व है तो दूसरी ओर उसका सापेक्ष्य अस्तित्व भी है; परिवार और समाज दोनों से ही व्यक्ति आबद्ध है। इस दृष्टि से विवेच्य विषय में आदर्श संबंधी व्यापक संभावनाएँ हैं। परन्तु विषय की व्यापकता ग्रहणक्षम भी हो जाती है यदि रामायण के केवल दो प्रमुख चरित्रों का विवेचन किया जाय। एक हैं मर्यादा पुरुषोत्तम राम, तो द्वितीय चरित्र है वैदेही। स्मरण रहे कि महर्षि वाल्मीकि ने सर्वत्र 'नर चन्द्रमा' राम की ही चर्चा की है। राम के उपलक्षण से महर्षि ने एक ऐसे चरित्र की सृष्टि की है जो सभी दृष्टियों से पूर्ण आदर्श है। पुत्र, भ्राता, पति, सखा, राजनीतिज्ञ, योद्धा, प्रजा

और शासक एवं सत्यवक्ता दृढ़ प्रतिज्ञ सभी का समन्वित आदर्श राम हैं।

रक्षिता स्वस्यवृत्तस्य स्वजनस्यापि रक्षिता।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य च परन्तपः॥

—"राम अपने आचार के और स्वजनों के पालक हैं; वे वैरिविध्वंसक और जीवों तथा धर्म के रक्षक हैं।"

सत्यवक्ता दृढ़प्रतिज्ञ राम का ओजमय रूप तो दर्शनीय है। कोपागार में पड़ी कैकेयी ने हठधर्मितावश महाराज दशरथ से दो वर प्राप्त कर लिये हैं राज्याभिषेक के एक दिन पूर्व ही। महाराज दशरथ अनुनय-विनय करके हार चुके हैं। निशावसान होने पर दशरथ ने राम को बुलाने के लिए सुमन्त्र को भेजा। प्रसन्न मुद्रा में राम ज्योंही कैकेयी के कोपकक्ष के समक्ष पहुँचे कि कैकेयी ने, जो दशरथ की ज्येष्ठ पुत्र संबंधी दुर्बलता से परिचित थी, राम से कहा कि राम तुम स्वीकृति दो कि महाराज जो कहेंगे, अवश्य करोगे। राम के स्वीकार कर लेने पर भी असंतुष्ट कैकेयी पुनः उसी की आवृत्ति करती है। उस समय राम की आत्म-विश्वास पूर्ण ओजस्वी वाणी राम के 'सत्यवाक्यो दृढ़-व्रतः' की परिचायक है। राम कहते हैं—"करिष्ये प्रतिजाने वा रामो द्विर्नाभिभाषते"—अर्थात्, "मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, (राजा को जो अभीष्ट होगा) उसे पूर्ण करूँगा। राम दो तरह की बातें नहीं करता।" अन्य क्षेत्रों में तो मर्यादापुरुषोत्तम का आदर्श रूप सर्वपरिचित है, परन्तु

आदर्श प्रजा का रूप किंचित् प्रच्छन्नप्राय है। रावण द्वारा सीताहरण के पश्चात् मित्र सुग्रीव की सहायतार्थ वाली और सुग्रीव के द्वन्द्वयुद्ध में राम ने, वृक्षों के अन्तराल से, वाली को आहत कर दिया। मुमूर्षु वाली ने समक्षप्राप्त राम की—उनके इस कृत्य की-पर्याप्त भर्त्सना करते हुए प्रश्न किया कि मैं जब द्वन्द्वयुद्ध में व्यस्त था तो आपने मुझ पर घातक शर प्रहार क्यों किया;आपके इस कृत्य ने आपके प्रति मेरी समस्त आस्थाओं को ध्वस्त कर दिया है। उस अवसर पर राम का उत्तर उनके उस रूप का निर्देशक है, जो कि उस समाज में आदर्श प्रजा का होना चाहिए।

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम्।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे ॥
इक्ष्वाकूणामियं भूमिः एशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि ॥
तां पालयती धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥
तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धमसंतानमिच्छवः ॥
तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥
अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥
भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः।

त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम् ॥
वयं तु भरतादेशावधिं कृत्वा हरीश्वर।
त्वद्विधान् भिन्नमर्यादान् निग्रहीतुंव्यवस्थिताः ॥

× × ×

प्रमत्तानप्रमत्तान् वा नरा मांसाशिनो भृशम्।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ॥
यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः।
तस्मात् त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर ॥

—(श्रीराम बोले) वानर ! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक सदाचार को तुम स्वयं ही नहीं जानते हो। फिर बालोचित अविवेक के कारण आज यहाँ मेरी निन्दा क्यों करते हो ? पर्वत-वन और काननों से युक्त यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की है, अतः वे यहाँ के पशु-पक्षी और मनुष्यों पर दया करने और उन्हें दण्ड देने के भी अधिकारी हैं। धर्मात्मा राजा भरत इस पृथ्वी का पालन करते हैं। वे सत्यवादी, सरल तथा धर्म, अर्थ और काम के तत्त्व को जानने वाले हैं। अतः दुष्टों के निग्रह और साधु पुरुषों के प्रति अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं। भरत की ओर से हमें तथा दूसरे राजाओं को यह आदेश प्राप्त है कि जगत् में धर्म के पालन और प्रसार के लिए यत्न किया जाय। इसलिए हमलोग धर्मप्रचार की इच्छा से समस्त पृथ्वीपर विचरते रहते हैं। मैंने तुम्हें क्यों मारा है ? उसका कारण मुझसे सुनो। तुम सनातन धर्म का त्याग करके अपने छोटे भाई की स्त्री से सहवास करते हो। इस महामना सुग्रीव के जीते-जी इसकी पत्नी रुमा का, जो

तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, कामवश उपभोग करते हो। अतः पापचारी हो। हमारे राजा भरत हैं। हमलोग उनके आदेश का पालन करने वाले हैं। तुम धर्मच्युत हो, अतः तुम्हारी उपेक्षा कैसे की जा सकती थी। वानरराज! हम लोग तो भरत की आज्ञा को ही प्रमाण मानकर धर्ममर्यादा का उल्लंघन करने वाले तुम्हारे जैसे लोगों को दण्ड देने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। मांसाहारी क्षत्रिय सावधान, असावधान अथवा विमुख होकर भागने वालों को घायल कर देते हैं, किन्तु उनके लिए इसमें दोष नहीं होता वानर! धर्म राजर्षि भी इस जगत् में मृगया में विविध जन्तुओं का वध करते हैं। इसलिए मैंने तुम्हें युद्ध में वाण का निशाना बनाया। शाखामृग हो, अतः तुम्हारी वध्यता में दोष नहीं है।"

नारी-चरित्र के आदर्श का विचार किया जाय तो यावच्चन्द्रदिवाकरौ स्थायी रहने वाला सीता-सा आदर्श संसार के साहित्य में दुर्लभ है। इस स्थल पर विरक्तवरिष्ठ यतीश्वर स्वामी विवेकानन्द के विचारों का आशय उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने किसी व्याख्यान में कहा है कि राम सदृश गौरवमय आदर्श चरित्र का सर्जन तो संभव है, परन्तु वैदेही सदृश अप्रतिम चरित्र-सृष्टि नितान्त असंभव है। स्वयं रामायणकार ने कहा है—

"काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्"

—'समस्त रामायण काव्य सीता के महान् चरित्र की ही

गाथा है। सहृदय समाज में महाभारत 'द्यूतप्रसंग' और भागवत 'चोरप्रसंग' कहे जाते हैं, तो रामायण अपने प्रधान नारीपात्रों के आदर्श व सजीव चित्रण के कारण 'स्त्री प्रसंग' के नाम से प्रचलित है। भारतीय नारी की आदर्श पंचमहापतिव्रताओं में से चार—सीता, अहिल्या, तारा, मन्दोदरी—रामामण की ही हैं। अशोक वन में राममग्ना वन्दिनी सीता के संबन्ध में अपरिचित हनुमान् की निम्नलिखित उक्ति सीता के असाधारण महत्त्व की प्रतिष्ठापिका है:—

"राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा।
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीतायाः नाप्नुयात्कलाम्॥

× × ×

यदि रामो समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत्।
अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः॥"

—(हनुमान् कहते हैं) "एक ओर तीनों लोकों का राज्य और दूसरी ओर जनक कुमारी सीता को रखकर तुलना की जाय, तो त्रिलोकी का सारा राज्य सीता की एक कला के बराबर भी नहीं हो सकता। इन सीता के लिए यदि श्रीराम समुद्र पर्यन्त पृथ्वी तथा सारे संसार को भी उलट देते, तो भी वह मेरे विचार से उचित ही होता।"

भारतीय समाज की मूल इकाई परिवार में नारी की तीन प्रमुख स्थितियाँ हैं—कन्या, पत्नी और माता। कथन

को आदर्श जाया और जननी बनाने की सपूर्ण शिक्षा रामायणकाल में दी जाती थी, रामायण में इसके यत्र-तत्र स्पष्ट उल्लेख हैं। कन्याओं को समस्त शास्त्रों, स्मृतियों और पुराणों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। उन्हें व्यायहारिक और नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी। कन्या को पति की 'सहधर्मचारिणी' बनाने के हेतु उसका सर्वांगीण विकास किया जाता था। इन सबका सक्रिय स्वरूप सीता हैं। जनस्थान के निर्जन वातावरण में क्रूर रावण का अतिथ्य निर्भीक सीता ही कर सकती थीं।

विवाह के पश्चात् नारी वधू पद पर प्रतिष्ठित होती थी और समाज की अपेक्षा रहती थी उस गृहिणी से कि पति के प्रति ऐकान्तिक निष्ठा रखती हुई वह कठोर अनुशासन और आत्मत्याग का जीवन व्यतीत करे। लंका के युद्ध राम की विजय और दुर्दान्त रावण की पराजय के पश्चात् जनसमूह के समक्ष उपस्थित सीता को राम ने जब यह कहा—

"रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जता॥
प्राप्त चारित्र संदेहा मम प्रति मुखे स्थिता।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा॥
तद्गच्छ त्वानुजानेऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे।
एतादश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया॥
कः पुमांस्तु कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम्।
तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहृल्लोभेन चेतसा॥

यदर्थंनिर्जितामे त्वं सोऽयमासादितो मया।
नास्ति मे त्वय्यभिषङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति॥"

"सदाचार की रक्षा, सब ओर फैले हुए अपवाद का निवारण तथा अपने सुविख्यात वंश पर लगे हुए कलंक का परिमार्जन करने के लिए ही यह सब (युद्ध इत्यादि) मैंने किया है। तुम्हारे चरित्र में संदेह का अवसर उपस्थित है; फिर भी तुम मेरे सामने खड़ी हो। जैसे आँख के रोगी को दीपक की ज्योति नहीं सुहाती, उसी प्रकार आज तुम मुझे अत्यन्त अप्रिय जान पड़ती हो। अतः जनक कुमारी! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ। मैं अपनी ओर से तुम्हें अनुमति देता हूँ। भद्रे! दसों दिशाएँ तुम्हारे लिए खुली हैं। अब तुमसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा, जो तेजस्वी होकर भी दूसरे के घर में रही हुई स्त्री को, केवल इस लोभ से कि यह मेरे साथ बहुत दिन रहकर सौहार्द स्थापित कर चुकी है, मन से भी ग्रहण कर सकेगा? अतः जिस उद्देश्य से मैंने तुम्हें जीता था, वह सिद्ध हो गया— मेरे कुल के कलंक का मार्जन हो गया। अब मेरी तुम्हारे प्रति ममता या आसक्ति नहीं है, अतः तुम जहाँ जाना चाहो वहाँ जा सकती हो।"

मूर्तिमती करुणा सीता ने वज्राघात सदृश राम के इन वचनों को सुनकर गद्गद वाणी में जो उत्तर दिया, वह उत्तर रामायणकालीन अथच भारतीय शिक्षा और

संस्कृति में पत्नी नारी का आदर्श है। रामायणयुग में और आज भी भारतीय नारी का आदर्श वाक्य हैः—

"पतिरेको गुरुर्नार्याः"

(पति ही नारी का एक मात्र गुरु—पूज्य—है।)

पूज्य पिता की आज्ञा से वन की ओर प्रस्थान करने वाले राम के साथ वनगमन हेतु उद्यत माता कौशल्या को राम द्वारा दिया परामर्श आज भी भारतीय नारी का प्रगतिशील स्थायी आदर्श है। रामने माता कौशल्या से कहा था कि "जीवन्त्याः स्त्रियाः भर्ता दैवतं प्रभुरेव च" (जीवित नारी के लिए तो पति ही देवता किंवा प्रभु है।)

इसका यह आशय नहीं कि समाज पुरुष से कुछ भी अपेक्षा न करता हो। यद्यपि रामायणकालीन समाज भी पितृसत्ताक समाज था, तथापि जिस प्रकार समाज पत्नी से एकनिष्ठ पातिव्रत्य की अपेक्षा करता था तो पत्नीव्रत भी उस समाज में पति का अपेक्षित आदर्श था। निःसंदेह उस काल में बहुपत्नीप्रथा प्रचलित थी और इसके दुष्परिणाम भी रामायण में विद्यमान हैं (स्वयं दशरथ इस कुप्रथा के लक्ष्य बने), तथापि एक-पत्नीव्रत ही रामायण-कालीन आदर्श है। राम स्वयं ही इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त श्रवण की मृत्यु के पश्चात् उसके पिता द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद—

"या गतिः सर्वभूतानां स्वाध्यायात्तपसश्च या।
भूमिदस्याहिताग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य वा ॥
तां गतिं गच्छ पुत्रक!"

—"हे पुत्र ! तुम उस गति को प्राप्त करो जो गति स्वाध्याय, तपस्या, भूमिदान, अग्नि होत्र करने वाले और एकपत्नीव्रती प्राणियों को प्राप्त होती है"—एकपत्नीव्रत का साक्षी है। इन उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आदर्शकन्या आदर्शजाया बनकर आदर्श जननी होगी ही।

इस लघुकाय लेख में मर्यादापुरुषोत्तम राम के मध्यम से स्थापित रामायणकालीन मानव के अनेकानेक आदर्शों का विवेचन शक्य नहीं, अतः व्यक्तिनिर्मित समाज में वर्ण और आश्रम संबंधी प्रचलित आदर्शों की विवेचना प्रासंगिक होगी।

अध्ययन से ज्ञात होता है कि वाल्मीकि के काल में वर्णों की स्थिति सुदृढ़ हो चुकी थी। ब्राह्मणों की लोकप्रियता असाधारण और प्रभाव लोकोत्तर था। इसका हेतु खोजने दूर नहीं जाना होगा। उनकी अध्ययन-अध्यापन की वृत्ति तथा त्यागशीलता की भावना ही इसका कारण थी।

"स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणाः विजितेन्द्रियाः।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च परिग्रहे ॥"

—"ब्राह्मण जितेन्द्रिय तथा स्वकर्मनिष्ठ थे। वे दानशील, अध्ययनशील और संग्रह में संयमी थे।"

ब्राह्मणों का कार्य जहाँ नैतिक और आध्यात्मिक उत्थानमें योगदान था, वहाँ क्षत्रियों का कर्तव्य देश को वाह्य और

आन्तरिक संघर्षों से बचाना था। क्षत्रियों के कर्तव्य के संबन्ध में रामायणकार कहते हैं:—

"दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषुहि"

—"दान, यज्ञ में दीक्षा और युद्ध भूमि में शरीर-त्याग यह क्षत्रियों का कर्तव्य था।"

शासनाधिकार तो क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को नहीं था तथापि ब्राह्मणों की श्रेष्ठता क्षत्रियों से बढ़कर थी।

"क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीत्"

—"ब्राह्मण क्षत्रियों के मुख स्वरूप थे।"

वैश्यों का कर्म वर्णाश्रम व्यवस्था को आर्थिक बल प्रदान करना था। स्वायत्त संस्थाओं एवं राजकार्यों में उन्हें पर्याप्त महत्त्व प्राप्त था। वर्ण व्यवस्था में शूद्रों का स्थान निम्न था। यज्ञों में शूद्रों की उपस्थिति यद्यपि वर्ज्य नहीं थी, तथापि शूद्र द्विजों के बहुसंख्यक अधिकारों से वंचित हो चुके थे। रामायण के कतिपय आख्यानों से यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन समाज में स्थित वर्ण व्यवस्था में स्थिति स्थापकता थी, परन्तु रामायण के 'उत्तरकाण्ड' के परिवर्तित वातावरण में वर्णसंबंधी कठोरता आ गई थी, अथच जाति किंवा जातीय कर्म का परिवर्तन तो सोचा भी नहीं जा सकता था।

भारतीय समाज में सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से वर्णव्यवस्था अथवा जातिव्यवस्था थी और है, तो

आश्रमव्यवस्था व्यक्ति विकास के लिए मान्य थी और है। वाल्मीकि ने रामायण में 'संन्यास' की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की है, परन्तु अन्य आश्रमों का प्रसंग प्राप्त पर्याप्त विवेचन किया है। भारतीय संस्कृति के इतिहास का ज्ञाता प्रत्येक व्यक्ति इन आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के स्वरूपों से संक्षेप में परिचित होंगे। ये चार आश्रम, जो प्राचीन भारत की आत्मा को पहिचानने और समझने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं, एक विशिष्ट जीवन पद्धति के परिचायक हैं। मंत्र द्रष्टा मनीषी महर्षियों ने मनुष्य-जीवन के चार लक्ष्य—चार परम पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ काम, और मोक्ष निर्धारित किये हैं। इन चारों में भी 'मोक्ष' जीवन का परम और चरम लक्ष्य है। अतः इन आश्रमों के द्वारा जीवन का संगठन इस प्रकार किया गया है कि मानव का वैयक्तिक व सामाजिक कल्याण हो।

प्रथम आश्रम—ब्रह्मचर्य-में देश की सांस्कृतिक और आत्मिक परम्पराओं का ज्ञान अपेक्षित है—अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में निवास करते हुए व्यक्ति ज्ञानोपार्जन करे। द्वितीय आश्रम—गृहस्थाश्रम-में जीवन और समाज की आर्थिक तथा जीवोत्पत्ति-संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति शब्दान्तर में यों कह सकते हैं कि गृहस्थाश्रम का उद्देश्य 'कर्म' करना है। तृतीय आश्रम—वानप्रस्थ—में मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थ और संसार के माया-मोह से ऊपर उठता है अर्थात् मनन-चिन्तन द्वारा संसार की नश्वरता की अनु-

भूति करते हुए व्यक्ति आसक्ति से पराङ्मुख होकर क्रमशः अनासक्ति की ओर उन्मुख होता है। चतुर्थ आश्रम—संन्यासाश्रम—में परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति अर्थात् आत्म बोध व्यक्ति का प्राप्य होता है। निष्कर्ष यह कि व्यक्ति व समाज का सर्वाङ्गीण विकास ही आश्रम-व्यवस्था की सुनिश्चित परिणति रही है। शब्दान्तर में यों कहें कि ये आश्रम दो परम्पराओं का पालन करते हैं:—प्रथम धर्म की परम्परा अर्थात् समाज के संरक्षण और विकाश की परम्परा; द्वितीय यज्ञ की परम्परा अर्थात् मानव के व्यक्तित्व का ईदृग्रूपेण निर्माण कि समस्त जागतिक संघर्षों का शमन होकर व्यक्ति का पूर्ण विकाश हो। इस प्रकार इन आश्रमों में समाज और व्यक्ति का दायित्वपूर्ण अन्योन्याश्रय है। एक ओर जहाँ समाज का दायित्व है कि वह व्यक्ति का भार वहन करे, वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति का दायित्व है कि वह समाज के गुरुभार ऋणों से उऋण हो। समाज और व्यक्ति, इस प्रकार परस्पर बाधक न बनकर जीवन को सुदृढ़ स्थायित्व प्रदान करने में साधक बनते हैं। निष्कर्ष यह कि वर्णाश्रम-व्यवस्था का आदर्श समाज और व्यक्ति के जीवन में सुन्दर समन्वय है। रामायणकार महर्षि के समस्त आश्रम सम्बन्धी ये ही आदर्श थे जिनकी निगूढ़ अन्तःसलिला सरित प्रवाहित है। वैयक्तिक स्वार्थों और समाज के व्यापक हितों के द्वन्द्व में महर्षि सामाजिक हितों की प्रभुता अक्षुण्ण रखने के पक्षपाती हैं। राम का समग्र जीवन इसी सिद्धान्त के ठोस धरातल पर स्थिर

स्थित है कि जहाँ व्यापक या सामूहिक हितों की रक्षा की समस्या हो, वहाँ संकीर्ण या वैयक्तिक स्वार्थों की बलि दे देना श्रेयस्कर है। यह सत्य है कि आश्रम संबन्धी इन आदर्शों का सटीक विश्लेषण महर्षि ने एक स्थान पर नहीं किया, तदपि धर्म अर्थ काम संबन्धी चर्चाएँ कवि के इसी लक्ष्य की पुष्टि करती हैं। निःसंदेह महर्षि की मान्यताओं के अनुकूल मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष का निर्विकल्पक आनन्द है; साथ ही वे धर्म, अर्थ और काम में भारत की भावना के अनुसार समन्वय के आदर्श की स्थापना भी करते हैं। राम के द्वारा कवि कहते हैं—

"अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा॥"

—"सच है, जो अर्थ और धर्म का परित्याग करके केवल काम का अनुसरण करता है, वह उसी प्रकार शीघ्र ही आपत्ति में पड़ जाता है, जैसे महाराज दशरथ।"

इसी प्रकार चित्रकूट में अयोध्या की शासन व्यवस्था का समाचार जानने के मिस राजनीति का उपदेश करते हुए राम भरत से प्रश्न करके यही व्यक्त कर रहे हैं कि धर्म, अर्थ और काम का समन्वय ही मानवोचित है।

"कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥"

—"तुम अर्थ के द्वारा धर्म को अथवा धर्म के द्वारा अर्थ को हानि तो नहीं पहुँचाते? अथवा आसक्ति और लोभ रूप काम के द्वारा धर्म और अर्थ दोनों में बाधा तो नहीं आने देते?"

कामुकता को कवि कतई प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखता—

"कामात्मता खल्वति न प्रशस्ता,"

—"कामुकता प्रशंसनीय नहीं।" कवि काम के अतिचार को केवल पुरुषों के लिए हेय नहीं समझता, अपितु स्त्रियों के लिए भी काम के आधिक्य को अनुपयुक्त समझता है—

"कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्,"

—"यह कामचार अतिरौद्र है और स्त्रियों के लिए उपयुक्त नहीं है।"

लेख को समाप्त करने के पूर्व कवि के अभिलषित आध्यात्मिक आदर्श की चर्चा अवसरोचित है। रामायण काव्य के माध्यम से कान्तासम्मित मधुर वाणी में वाल्मीकि ने जीवन का आध्यात्मिक लक्ष्य 'तप' माना है। इसीलिए आदिकवि प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक को "तपः स्वाध्याय निरतं" के 'तप' शब्द से प्रारम्भ करते हैं। न केवल इतना ही, अपितु इस श्लोक में इस शब्द की आवृत्ति भी करते हैं। अभिप्राय यह कि पवित्रता पूर्वक रहकर तपोनुष्ठान करते ईश्वर की आराधना करना ही वाल्मीकि का आध्यात्मिक व दार्शनिक उपदेश है।

पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि मानव के व्यापक जीवन के विविध आदर्शों का साङ्गोपाङ्ग विवरण संभव नहीं है, अतः यही प्रयास रहा है कि कतिपय आदर्शों का दिग्दर्शन ही किया जाये।

स्वामी विवेकानन्द और समाज-सुधार

मूल मराठी लेखिका—प्रा० शकुन्तला भुस्कुटे, एम०, ए०,
लेडी अमृत बाई डागामहिला महाविद्यालय, नागपुर।

अनुवादक—सु० रा० गोलंवलकर, एम० ए०, राजकुमार
कालेज, रायपुर

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय इतिहास में अनुपम योगदान दिया। सन् १८९३ ई० में अमेरिका के शिकागो शहर में आयोजित सर्वधर्मपरिषद् में स्वामीजी ने वेदान्त प्रणीत हिन्दू धर्म के तत्त्वों का प्रभाव पूर्ण समर्थन किया। वैज्ञानिक क्षेत्र में अग्रगण्य तथा भौतिक जीवन को सर्वस्व मानने वाले पाश्चात्य राष्ट्रों को उन्होंने यह अनुभव कराया कि कुछ ऐसा भी तत्त्व परतंत्र भारतीयों के पास है, जिसे वे सीखें।

स्वामीजी के जीवन में ईश्वर-लाभ की आकांक्षा को अग्रस्थान प्राप्त था। वेदान्त-तत्त्वों पर आधारित मानव-धर्म उनका मुख्य विषय था। स्वधर्म कार्य के लिये सर्वस्व अर्पण करने वाले स्वामीजी के हृदय की आन्तरिक इच्छा थी कि भारतीय समाज का सर्वाङ्गीण विकास होकर नवभारत का निर्माण हो। यद्यपि अपने अभिनव कार्य के द्वारा मातृभूमि की सेवा करने वाले विवेकानन्द तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक हलचलों से वैयक्तिक

रूप से दूर थे, तथापि देश की अन्य घटनाओं की ओर उनका पूर्ण ध्यान था।

आज यद्यपि स्वामीजी हमारे बीच नहीं हैं, तथापि अपनी अनमोल विचार-सम्पदा वे पीछे छोड़ गये हैं। यद्यपि स्वामीजी के साहित्य में धर्म विषयक विचारों की प्रधानता है, तथापि प्रसंगानुसार सामाजिक सुधारों के बारे में निर्भीकता से व्यक्त किये गये विचार या निश्चित मत यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। स्वामीजी की समकालीन राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थिति अब पूर्णतया बदल गयी है। उनके समय स्वप्नवत् प्रतीत होने वाला भारत की स्वतंत्रता का ध्येय सोलह वर्ष पूर्व साकार हो चुका है। यद्यपि हमें राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी है, तथापि भारतीयों को अभी भी कई प्रकार की सामाजिक समस्याओं का हल ढूँढ़ना है। विद्यमान समाज नेताओं का ध्यान भारत की सर्वांङ्गीण उन्नति पर केन्द्रित हो गया है। ऐसे सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के समाज-सुधार तथा विकास से सम्बन्धित विचारों का परिचय प्राप्त करना निरर्थक न होगा।

विगत दो सौ वर्षों में भारत में अनेक राजनैतिक तथा सामाजिक हलचलें हुईं। इस कालखंड के प्रारम्भ में मुगल साम्राज्य नष्ट हुआ। साहसी, धूर्त अंग्रेजों के समक्ष मराठों की सत्ता को झुकना पड़ा। अन्य स्वतंत्र राज्य एक के बाद एक अंग्रेज शासन के आधीन हुए। सम्पूर्ण देश में व्याप्त इस राजनैतिक परिवर्तन के कारण

पहले से ही अस्त-व्यस्त भारतीय समाज की स्थिति और अधिक दयनीय हो गयी। राजनैतिक परतंत्रता के कारण आत्मविश्वास नष्ट होने के लक्षण दीख रहे थे। रूढ़ियों की मान्यता तथा दैववाद के भार के नीचे दबा हुआ बहुसंख्यक समाज वेदकालीन धर्मतत्त्वों को भूल चुका था। स्मृतियों और पुराणों का प्राबल्य बढ़ चुका था। प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का स्वरूप बदल चुका था। उसका स्थान जन्म गत ऊँच-नीच के भेद पर आधारित जाति-व्यवस्था ने ले लिया था। धार्मिक तथा ऐहिक ह्रास की ओर तीव्र गति से अग्रसर होने वाले भारत पर परतंत्रता का अवसाद फैल गया था।

भारतीय प्रदेशों को अपने शासन के अन्तर्गत लाने के बाद अपने हित पर दृष्टि रखकर ही ब्रिटिश सरकार ने शासन-व्यवस्था में आवश्यक सुधार किये। पोस्ट, रेल्वे, अंग्रेजी शिक्षा इत्यादि की सुविधाएँ भारतीयों को उपलब्ध हुई। साम्राज्य-विकास में अंग्रेजों को प्राप्त सफलता के कारण तथा उनकी कार्य तत्परता के कारण जागतिक हलचलों से अलिप्त भारतीयों को अंग्रेजों का राज्य ईश्वर का वरदान प्रतीत होने लगा। भारतीय सोचने लगे कि अंग्रेज हमारे हितू हैं और उनका राज्य कल्याणप्रद है। अंग्रेजी भाषा के अध्ययन से नव सुशिक्षित वर्ग को पाश्चात्य संस्कृति का परिचय प्राप्त हुआ। इस सुशिक्षित वर्ग में यह कल्पना दृढ़मूल हो गयी कि जिस संस्कृति के आधार पर पाश्चात्य जन

जागतिक राजकारण में अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित कर सके, उस संस्कृति को बिना आत्म सात् किये देश की प्रगति असम्भव है। अंग्रेजी शिक्षा तथा ईसाई धर्म का प्रचार करने वाले ईसाई मिशनरियों ने हिन्दू धर्म तथा भारतीय आचारों पर मर्म-भेदक टीका करने का कार्य अबाधित रूप से चालू रखा था पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध से दीप्त प्रथम आंग्लविद्याविभूषित पीढ़ी के बाद सुविज्ञ भारतीयों को अनुभव हुआ कि स्वदेश-हित के कार्यों में निविष्ट होना उनके लिए आवश्यक है। इसी से राष्ट्र प्रेम की भावना उत्स्फूर्त हुई।

भारत की राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक उन्नति करने के उद्देश्य से सबसे पहले कार्य प्रारम्भ करने का सम्मान बंगाल के राजाराम मोहन राय ने प्राप्त किया। कानून से सती-प्रथा बन्द करने के लिए उन्होंने सरकार को सहायता दी। बहुभाषाकोविद राममोहन राय ने अनेक वृत्तपत्र निकाले। अनेक तरुणों को राष्ट्र-कार्य करने के लिए उत्साहित किया। अनेक हलचलों के पाश अपने पीछे लगालेनेवाले राममोहन की मूल प्रवृत्ति धार्मिक थी। वेदान्त धम पर आधारित तत्त्व तथा बुद्धिवाद के समन्वय के उनके प्रयत्नों से ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई। ब्रह्मसमाज की ओर सुशिक्षित तरुणों का ध्यान आकर्षित हुआ तथा आंग्लविद्याविभूषित वर्ग में, स्वधर्म त्यागकर ईसाई बनने की जो प्रथा प्रारम्भ हो गयी थी, उस पर शीघ्र नियंत्रण लग गया। ब्रह्मसमाज ने समाजिक सुधार

का समस्या की ओर भी ध्यान दिया । स्त्री-स्वतंत्रता, असवर्ण-विवाह, खान-पान सम्बन्धी नियमों की शिथिलता इत्यादि बातों को अमल में लाने के जो प्रयत्न उस समय ब्रह्मसमाज द्वारा किये गये, उनमें से अधिकांश तत्कालीन बहु संख्यक समाज को शीघ्र मान्य न हो सकने वाले होने के कारण ब्रह्मसमाज बहुसंख्यक समाज से एक रूप न हो सका।

बंगाली समाज-सुधारकों की सूची में राममोहन राय के बाद पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का नाम प्रमुखता से आता है। पंडित ईश्वरचन्द्र ने शास्त्राधार से सिद्ध किया कि विधवा-विवाह हिन्दू धर्मशास्त्रों द्वारा सम्मत है। परन्तु यह विषय ऐसा था जिसे कर्मकाण्ड को प्रमुखता देनेवाला तत्कालीन बहुसंख्यक समाज सहन न कर सकता था। इसी कारण इससे बंगाल की विधवाओं की दुखमय स्थिति में कुछ विशेष परिवर्तन न हुआ। बंगाल के साथ-ही-साथ महाराष्ट्र में भी समाज-सुधार की हवा बहने लगी। बंगाल में जिस प्रकार अनेकविध हलचलों को जन्म देने का श्रेय राजा राममोहन राय को प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार महाराष्ट्र में यह श्रेय म० गो० रानडे को प्राप्त हुआ है। उनके मार्गदर्शन में महाराष्ट्र में ब्रह्मसमाज की भाँति प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। उन्हीं की प्रेरणा से अखिल भारतीय सामाजिक परिषद् को ठोस स्वरूप प्राप्त हुआ। इससे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की समाज-सुधार की हलचलों में एकसूत्रता उत्पन्न हुई। प्रतिवर्ष

कांग्रेस अधिवेशन के बाद कार्यक्रम में सामाजिक परिषद् का भी वार्षिक अधिवेशन सम्मिलित किया जाने लगा। भिन्न भाषीय, भिन्न धर्मीय समाज-सुधारकों के सम्मेलनों में सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित प्रस्तावपारित होने लगे।

उच्च हेतु से प्रेरित सुधारकों को, उनकी दोष पूर्ण कार्य-पद्धति के कारण आवश्यक सफलता प्राप्त न होती थी। अधिकांश समाज-सुधारक सरकारी नौकरी अथवा अपना-अपना व्यवसाय सँभालकर, बचे समय में समाज-सुधार का काम करते थे। वर्ष में एक बार एकत्रित होना, निश्चित विषयों पर भाषण देना, विभिन्न प्रश्नों पर प्रस्ताव पारित होने के बाद उस विषय पर कानून बनाने की प्रार्थना सरकार को करना, इस प्रकार साँचे में ढले हुए निर्जीव कार्यक्रमों के कारण समाज-सुधार की हल-चल विशेष उन्नतिप्रद न हो सकी। फिर, समाज-सुधारकों द्वारा उठाये गये सुधार-कार्य उच्च वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण उनके प्रयत्नों का लाभ बहुसंख्यक समाज को न मिला। पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति के दृष्टिकोण से भारतीय समस्याओं की ओर देखने की अधिकांश सुधारकों की प्रवृत्ति दोषास्पद थी। कुछ ऐसे भी अतिवादी सुधारक थे, जो समझते थे कि कल्पना, विचार या जो कुछ भी भारतीय है, वह समस्त घृणास्पद और त्याज्य है। इसीलिए बहुसंख्यक समाज उन्हें अधर्मी समझता था। सुधार-प्रणाली के दो पहलू हैं

—रचनात्मक और विनाशात्मक। सुधारक-वर्ग ने विनाशात्मक पहलू अपनाया था, इसलिए वह बहुत ही थोड़ा विधायक कार्य कर सका। कुछ अनिष्ट रूढ़ियों को नष्ट करने के हेतु सरकार से कानून पारित करवाने में यद्यपि सुधारकों को सफलता प्राप्त हुई, तथापि वे कभी भी बहुसंख्यक समाज का विश्वास प्राप्त न कर सके। सुधारकों ने बहुसंख्यक समाज के प्रति कोई ममत्व की भावना नहीं दर्शायी और उन्होंने जिन सुधारों का प्रतिपादन किया, वे उनके स्वयं के आचरण में यदा-कदा ही उतरे दिखाई देते थे, इसलिए लोगों को उनके अनुसरण में कुछ भी आकर्षण प्रतीत न हुआ। समाज की समस्याओं, कल्पनाओं, विचारों, रीतिरिवाजों और धर्मका गहरा ज्ञान होने पर भी अधिकांश सुधारक तत्कालीन समाज के विकास में बाधा डालनेवाली समस्याओं को हल न कर पाये।

पृथ्वीपर्यटन किये हुए स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय तथा पाश्चात्य समाज का निकट से निरीक्षण किया था। भारतीय समाज में परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक सुधार होना अनिवार्य था। इस विषय में सुधारक-वर्ग से उनका विरोध न था। धर्म के नाम पर हिन्दू समाज में जो मूर्खता पूर्ण, अव्यवहार्य रीतियाँ रूढ़ होगयी थीं उनको नष्ट करने की आवश्यकता अन्य समाज-सुधारकों की भाँति स्वामीजी को भी प्रतीत होती थी। स्वामीजी ने धर्मशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया था, वे

संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, अत "बाबा" वाक्यं प्रमाणम्-मानने के लिए तैयार न थे। स्वामीजी का सुधारकों से जो विरोध था, वह सुधार की पद्धति के बारे में था।

जो व्यक्ति समाज-सुधारक होना चाहता है, उसे मन से दृढ़ होना चाहिए। अप्रिय परन्तु पथ्यकारक तत्त्व को समाज को समझाने का कार्य अत्यन्त विकट होता है। अनेक शतकों से प्रचलित मूर्खतापूर्ण कुसंस्कारों का त्याग करने के लिए बहुसंख्यक समाज सहसा तैयार नहीं होता। कई बार, स्वयं का आचरण शुद्ध होते हुए भी निन्दा, उपहास, बहिष्कार आदि के आघात सर्वसाधारण समाज के द्वारा सुधारकों पर होते रहते हैं। कई बार सहनशक्ति की कसौटी भी उपस्थित होती है। समाजमें रहकर, समाज पर क्रोधित न होते हुए, समाज-सुधारक को अपनाया हुआ कार्य करना पड़ता है। परम्परावादी बहुसंख्यक समाज की गति सुधार के मार्ग पर अत्यन्त धीमी होने के कारण बहुत कम सुधारकों को ही अपने जीवन काल में अपने कार्य की सिद्धि देखने का सौभाग्य प्राप्त होता है। समाज-सुधारक की भूमिका की पूर्ण कल्पना स्वामीजी को थी। इसलिए वे कहते हैं कि जो भी सच्चा समाज-सुधारक होना चाहता है, वह पहले परख ले कि उसमें तीन गुण हैं अथवा नहीं। स्वामीजी पूछते हैं, "क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तान आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर

रहे हैं, और लाखों लोग शताब्दियों से इस भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है?....क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है?... यदि हाँ, तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है।... अच्छा, माना कि तुम अनुभव करते हो; पर पूछता हूँ, क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित किया है? .... क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकालने का कोई मार्ग ठीक किया है?.... यही दूसरी बात है। किन्तु इतने ही से पूरा न होगा। क्या तुम पर्वतकाय विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे स्त्री-पुत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जाय, नाम-कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में लगे रहोगे? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे?... बस, यही तीसरी बात है। यदि तुममें ये तीन बातें हैं, तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है।"

स्वामीजी लिखते हैं—

"समाज के मस्तक पर ज्वलन्त अभिशापों की वर्षा कर तथा उसके प्रत्येक आचार-व्यवहार पर प्रदर्शन पूर्ण टीका कर किसी भी प्रकार का सुधार असम्भव है।"

स्वामी जी को विनाश का मार्ग प्रिय न था। सुधारक पल्लवग्राही सुधार चाहते थे, जब कि स्वामीजी का विश्वास धर्म के सुदृढ़ तत्त्वों पर आधारित आमूलाग्र सुधार पर था। उनका ध्यान रचनात्मक तत्त्वों पर केन्द्रित था समाज-सुधार की समस्या हल करनेका उपाय स्वामीजी ने निम्नलिखित शब्दों में बताया है—

"कितनी भी शक्तिका प्रयोग करो,राज्य प्रणाली में चाहे जितना परिवर्तन करो, कितने भी कड़े कानून बनाओ, पर उससे किसी जाति की अवस्था नहीं बदल सकती। केवल आध्यात्मिक तथा नैतिक शिक्षा-दीक्षा में ही वह शक्ति है, जो जातियों की असत प्रकृति को दूर कर उन्हें सन्मार्ग पर ले जा सकती है। आत्मोन्नति से ही सब प्रकार के दुःख-कष्ट मिट सकते हैं।"

आध्यात्मिक नींव पर खड़ी वैदिक संस्कृति की उच्च परम्परा के बारे में स्वामीजी को जो जाज्वल्य अभिमान था, वह उनके साहित्य में पग-पग पर दिखता है। परन्तु साथ ही साथ मूर्खतापूर्ण आचारों का शास्त्रीय विवेचन करनेवाले धर्माभिमानियों पर कठोर टीका करने में उन्होंने तनिक भी संकोच नहीं किया। स्वामीजी कहते हैं—

"दोष धर्म का नहीं है! धर्म के नाम पर धर्म व्यवसायी गुरुओं और पुरोहितों-पंडों के सामाजिक आधिपत्य ने ही समाज-जीवन को पंगु बना डाला है।"

समाजमें रूढ़ कुरीतियों से सामंजस्य करने की आवश्यकता उन्हें कभी भी प्रतीत नहीं हुई। स्वामीजी सुधार तो अवश्य चाहते थे, पर बिना किसी विशेष कारण के समाज की चली आई परम्परा को तोड़ना या उसकी विशेषताओं को नष्ट कर देना उन्हें पसन्द नहीं था।

वे लिखते हैं—

"धर्म के नाम पर प्रचलित आचार-विचार और व्यवहार सचमुच धर्म हैं अथवा नहीं, इसकी सच्ची परख करके तथ्य ढूँढ़ निकालने की जिम्मेदारी आज के युवकों पर है।"

पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करनेवाले सुशिक्षित युवकों को स्वामीजी ने प्रेमपूर्वक इंगित किया है। स्वामीजी ने बड़ी ही कुशलता से पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृतिका भेद दर्शाया है। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता पर आधारित है जबकि पाश्चात्य संस्कृति का पूरा आधार जड़वाद है। पाश्चात्य संस्कृति का ध्येय इहलौकिक सुख होने के कारण,तलवार की सहायतासे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने में उसकी रुचि अधिक है। अध्यात्मप्रधान भारतीय संस्कृति शान्तिप्रिय है। वह सदैव दुर्बलका रक्षण कर दूसरों को महान् बनाने का प्रयत्न करती रही है।

त्यागमय जीवन की शिक्षा देना उसकी परिपाटी है। इस मूलभूत अन्तर के कारण इन दोनों संस्कृतियों का एकरूप हो जाना भले ही सम्भव नहीं है, पर उनमें समन्वय अवश्य लाया जा सकता है।

बहुत सी बातों में पाश्चात्यों का अनुकरण स्वामीजी को नहीं रुचा वे कहते हैं—क्या केवल विदेशी भावों के आत्मसात से किसी को कुछ प्राप्त हुआ है? सिंह की खाल ओढ़ लेने से ही क्या कभी गधा सिंह बना है?[11] स्वामीजी का तात्पर्य यह नहीं था कि भारतीयों के लिये पाश्चात्यों से लेने लायक कुछ भी नहीं है। स्वामीजी यह अच्छी तरह जानते थे कि भारतीयों की गरीबी और गुलामी उनके प्रगति पथ पर आनेवाले सबसे बड़े रोड़े हैं। और पश्चात्यों की सहायता के बिना भारतीयों के लिये विज्ञान शास्त्र में उत्कर्ष प्राप्त करना असम्भव है, यह भी स्वामीजी को मान्य था! स्वामीजी ने कहा है कि जो भी हमें पश्चात्यों से लेना है, उसे हम लें तो सही, पर उसे अपने साँचे में डालकर ऐसा बना लें कि उससे भारतीय समाज की मूल प्रकृति को धक्का न लगे, हमारे समाज का भारतीयत्व नष्ट न हो।

(क्रमशः)

—'जीवन-विकास' से साभार।

—x—x—

कर्मदेवोभव

लेखक—श्री संतोष कुमार झा

न हि कश्चित् क्षणम् अपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत् ।
कार्यते हि अवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैः गुणाः ॥
(गी० अ० ३-५)

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है-मनुष्य बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता। उसे प्रकृति के नियमों द्वारा विवश हो कर कर्म करना पड़ता है। मनुष्य कर्म करने को बाध्य है। हमारी शारीरिक क्रियाएँ--श्वास लेना-छोड़ना, बोलना-चलना, देखना-सुनना, खाना-पीना, सभी तो कर्म हैं। आज हमारा जीवन जैसा है, भविष्य में जो भी रहेगा और भूत काल में जो था, वह सब हमारे कर्मों का परिणाम मात्र है। योरोप के किसी विद्वान् का कथन है कि life is nothing hut the grand total of our actious अर्थात् जीवन और कुछ नहीं हमारे कर्मों का महायोग मात्र है। यह कथन बड़ा सारगर्भित है। मनुष्य का जीवन ही क्यों, पृथ्वी पर जितनी वस्तुएँ हैं, जितने प्राणी हैं, सभी किसी न किसी कार्य के परिणाम हैं या दर्शन की भाषा में यों कहें कि किसी न किसी कर्म के फल हैं। इस विश्व-ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति ही कार्य-कारण शृंखला से आबद्ध है।

कर्म बंधन का कारण या मुक्ति का साधनः--हम प्रायः चर्चाओं आदि में सुनते हैं कि मनुष्य अपने कर्मों के कारण

ही विभिन्न प्रकार के सुख या दुख प्राप्त करता है। अपने कर्मों के कारण ही कोई राजा है तो कोई रंक, कोई घोर संसारी है तो कोई वीतराग संन्यासी, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख। तो क्या ये कर्म इतने प्रबल हैं कि मनुष्य उनके हाथों गढ़ा जाकर उस फल को भोगने वाला एक निरीह प्राणी है? क्या ये कर्म ही मनुष्य के भाग्य निर्माता हैं? क्या ये कर्म ही नर को नारायन या क्षुद्र कीट बना देते हैं? क्या कर्म ही बन्धन और मुक्ति का कारण है नहीं! कर्म स्वयं में विलिप्त है। न तो वह बंधन का कारण है और न स्वर्ग का दाता ही। कर्म स्वयं में न तो श्रेष्ठ है न हीन। वह तो मनुष्य का मन है जिसके संयोग से कर्म फल उत्पन्न करते हैं। मानव के मन के अनुसार ही कर्म श्रेष्ठ या हीन होते हैं, बंधन या मुक्ति के कारण होते हैं। इसीलिए ऋषि कहते हैं--मन एवं मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयोः, अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन या मुक्ति का कारण है।

हमने ऊपर के विवेचन में देखा कि कर्म स्वयं में न तो श्रेष्ठ है, न हीन; न अच्छा है, न बुरा; तब उस कर्म की जो ऐसा अलिप्त है क्यों चर्चा की जाय? उसका विवेचन किस लिए किया जाय? एक और दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य जब प्रकृति से ही कर्म करने को बाध्य है तो हम क्यों कर्म का विचार करें? हम श्वासोच्छ्वास के लिये विवश हैं, हमारे विचार करने या न करने से उस क्रिया में कोई अंतर नहीं आता। तब

ऐसी प्राकृतिक क्रिया पर विचार क्यों किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब हम कर्म करने को बाध्य हैं, तो क्यों न उसे विचार पूर्वक किया जाय। श्वासोच्छ्वास तो सभी करते हैं, किन्तु जो उसे विचार-पूर्वक करते हैं उन्हें हम योगी के नाम से जानते हैं और वही श्वास की क्रिया प्राणायाम कही जाती है। हम सभी इस योग और प्राणायाम की शक्ति से परिचित हैं।

सकाम कर्म बंधन का कारण :—थोड़ा विचार करके देखें, हममें से कितने लोग ऐसे हैं जो यह समझ कर कर्म करते हैं कि यह तो प्रकृति का धर्म है और प्रकृति ही अपने गुणों के अनुसार कार्य कर रही है, मैं केवल दर्शक मात्र हूँ, कर्ता नहीं। हम लोग कर्म करते समय यही बात भूल जाते हैं कि वास्तव में कर्ता हम नहीं हैं, प्रत्युत हम यह समझते हैं कि सभी कर्म मैं ही कर रहा हूँ। जहाँ इस प्रकार की अहंकारपूर्ण भ्रांति एक बार हमारे मन में आई कि उससे उत्पन्न होनेवाले सारे दोषों का दायित्व भी हम पर आ पड़ता है। जब मैं यह सोचता हूँ कि अमुक कर्म का कर्ता मैं हूँ, तब उससे उत्पन्न होने वाले फल या परिणाम की प्राप्ति की आशा भी मेरे मन में उत्पन्न होती है और उस अदृश्य फल या परिणाम के प्रति मैं आसक्त हो जाता हूँ। इस आसक्ति के उत्पन्न होते ही मेरा ध्यान भविष्य के अज्ञात गर्भ में छिपे उस नितान्त अनिश्चित फल में लग जाता है। मनुष्य के फला-सक्त होते ही कर्म शिथिल हो जाते हैं। उसका अधिक

ध्यान उस कर्म-फल की प्राप्ति और उसके पश्चात् उसके काल्पनिक उपभोग में लग जाता है। इसके साथ ही उसकी कल्पना में वे बाधाएँ भी उपस्थित प्रतीत होती हैं जो उस फल विशेष की प्राप्ति में रोड़े उत्पन्न कर सकती हैं। अब मनुष्य का ध्यान कर्मफल की प्राप्ति के साथ-साथ एक और दिशा में लग जाता है और वह है उन सम्भावित बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न। इसके फल-स्वरूप मनुष्य अपने मूल कर्म में ही शिथिल नहीं होता, अपितु उसे छोड़कर ऐसे कर्म करता है जो उसके मनो-वांछित फल की प्राप्ति के अनुकूल न होकर उन काल्पनिक बाधाओं को दूर करने के प्रयास मात्र होते हैं। इस विचित्र कर्मशृंखला का परिणाम भी विचित्र होता है। मनुष्य को उस फल की प्राप्ति नहीं होती, जिसकी कि वह आस लगाये बैठा होता है, क्योंकि उसकी जो पूरी शक्ति कर्म में लगनी चाहिये थी वह कर्म के फल की प्राप्ति के प्रयासों में बँट जाती है। अतः उसे जो परिणाम प्राप्त होते हैं, उसकी उसे स्वप्न में भी आशा नहीं रहती, क्योंकि बाधाएँ वास्तविक नहीं होतीं। इस वृत्ति के कारण हम भविष्य में प्राप्त होनेवाले फल के उपभोग की कल्पना करते हैं और उस फल में किसी और का भाग न हो इसका भी प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में स्वार्थी होकर हम अपना सम्बन्ध कई लोगों से बिगाड़ लेते हैं, शत्रुता कर लेते हैं। फल के प्रति इस प्रकार आसक्ति या फल की कामना ही सकाम कर्म कही जाती है। इसके परिणाम-

स्वरूप हमारे भौतिक जीवन में निराशा, वितृष्णा, स्वार्थ, दम्भ आदि उत्पन्न हो जाते हैं, और आध्यात्मिक जीवन में बाधा उत्पन्न होती है। आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति में सकाम कर्म विषतुल्य हैं।

निष्काम कर्म ही एक मात्र मार्गः—

तब, इस कर्मजाल से निकलने का क्या कोई उपाय है ? क्या कोई ऐसा मार्ग है कि मनुष्य कर्म तो करे, किन्तु कर्मजन्य बंधनों से न बँधे ? अर्जुन ने भी कातर होकर भगवान् से पूछा था कि हे कृष्ण, जब कर्म इतने भयंकर और गहन हैं तो क्या उनका त्याग कर देना चाहिये ? उसकी शंका का समाधान करते हुए भगवान् ने कहा था कि मनुष्य कर्म करने को बाध्य है। उसे कर्म करना ही पड़ेगा।—"कर्मण्येवाधिकारस्ते"—हे अर्जुन, तेरा अधिकार कर्म करने तक ही सीमित है, तू केवल कर्म कर। "अकर्मणि ते संगः मा अस्तु"—कर्म न करने में तेरी प्रवृत्ति न हो, अर्थात् तुझे कर्म अवश्यमेव करना चाहिये, किन्तु—"मा फलेषु कदाचन" (गी० २।४७)—फलों पर तेरा अधिकार नहीं है। तू कर्मफल की चिंता मत कर। तात्पर्य यह कि जो भी कर्म हमें करना है उसके संपादन में ही हमारा सारा ध्यान केन्द्रित रहे।

निष्काम कर्म कैसे करें:—एक बार जब यह निश्चय हो गया कि निष्काम कर्म ही एक मात्र उपाय है, तब समस्या उत्पन्न होती है कि यह निष्काम कर्म करें

कैसे ? भगवान् श्रीकृष्ण हमारा मार्ग दर्शन करते हुए कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

निष्काम कर्म का मूल है सङ्गं त्यक्त्वा–आसक्ति का त्याग। हमने पहले ही चर्चा की है कि फल के प्रति आसक्ति ही सारे बन्धनों और अनर्थों की जड़ है। अतः फल के प्रति आसक्ति का त्याग निष्काम कर्म की प्रथम आवश्यकता है। दूसरी है—योगस्थः कुरु कर्माणि–हे अर्जुन, योगस्थ होकर कर्म कर। व्यक्ति यदि योगस्थ होकर कर्म करे तो उसे कर्म का दोष नहीं लगता। योग को जाने बिना मनुष्य योगस्थ हो ही नहीं सकता। योग की हमारे शास्त्रों में अनेक परिभाषाएँ और अर्थ हैं, किन्तु गीता में उसका सर्वमान्य और सरल अर्थ प्रतिपादित किया गया है "योगः कर्मसु कौशलम्" (गी० २-५०) अर्थात्, योगकर्म करने की कुशलता है। तो क्या अत्यन्त कुशलता से चोरी करनेवाला चोर भी योगी है ? यदि हीन और क्रूर कर्म करने वाले व्यक्ति अपने कर्म कुशलता पूर्वक करें, तो क्या उन्हें हम योगी कहेंगे ? कहीं ऐसा हुआ तब तो संसार का सर्व नाश ही हो जाय। तो फिर कर्म की कुशलता का क्या तात्पर्य है ? लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में लिखा है—"कर्म में स्वभाव सिद्ध रहने वाले बन्धन को तोड़ने की युक्ति का नाम ही कर्म की कुशलता है" [गी० र० प्र० ५८)। यह युक्ति क्या है ?

सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा सिद्धि और असिद्धि में, सफलता और विफलता में बुद्धि को संतुलित रखना। इसी समत्व को योग कहते हैं। यही कर्म की कुशलता कहलाती है।

अब प्रश्न आता है कि यह कौशल या योग कैसे प्राप्त किया जाय? उसके लिये सबसे पहली आवश्यकता होती है सत्कर्म करने की। मनुष्य जन्म से ही इतना उन्नत नहीं होता कि वह सफलता और विफलता की भावना से अलिप्त रहकर कर्म न [illegible]। अतः कर्मयोग के साधनाकाल में हमें प्रथम शुभ कि[illegible] या सत्कर्मों द्वारा चित्त शुद्धि करनी पड़ती है [illegible] तब हम समत्व की स्थिति को प्राप्त करने की योग्यता अर्जित करते हैं। कर्म की गति अति गहन है। अतः यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौन से कर्म शुभ हैं और कौन से अशुभ। लोकमान्य तिलक ने हमारी इस समस्या का एक सरल हल गीता-रहस्य में प्रदान किया है। उन्होंने लिखा है—जो कर्म हमारे मोक्ष अथवा आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो वह पुण्य है, धर्म है, शुभकर्म है; और जो उसके प्रतिकूल है वह पाप है, अधर्म और अशुभ है (गी० र० ६०)। आगे उन्होंने लिखा है कि आत्मा का कल्याण या आध्यात्मिक पूर्णता ही प्रत्येक मनुष्य का प्रथम लक्ष्य है, परम उद्देश्य है। अन्य प्रकार के हितों की अपेक्षा उसी को प्रधान मानकर तदनुसार कर्म-अकर्म का विचार करना चाहिये।

हम साधारण जन कितना भी विचार करें, कितने ही सावधान रहें, तो भी ऐसी सम्भावना है कि भ्रांतिवश हम कुछ अशुभ कर्मों को शुभ समझकर कर जायँ और उसके परिणाम स्वरूप उसके बन्धन में बँध जायँ। अतः सर्व साधारण के लिये यह पूर्णतः सुरक्षित मार्ग नहीं है। इसीलिये किसी ऐसी युक्ति से कर्म करना चाहिये जिससे कर्म पूरी तरह विषहीन बन जायँ और कर्ता भी अलिप्त रह सके भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

कर्म फल के प्रति आसक्ति त्यागकर और कर्मों के फल को भगवान् के चरणों में अर्पित करके जो व्यक्ति कर्म करता है, वह जल में कमलपत्रवत् कर्मों के बंधन रूपी पाप से लिप्त नहीं होता। महापंडित सातवलेकरजी ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए अपने ग्रन्थ पुरुषार्थ-बोधिनी में लिखा है-जिस कर्म के फल का भोग कर्ता स्वयं करना चाहता है, जिस फल के उपभोग मेंदूसरों को वंचित रखता है और जो कर्म वह अपनी भोग लालसा की तृप्ति के लिये करता है, वे कर्म दोषपूर्व और बंधन के कारण हैं (श्री०भ०गी०पु०बो०पृष्ठ ३६२) उसी प्रकार जिन कर्मों का फल कर्ता अपने लिये नहीं रखता प्रत्युत दूसरों को अर्पित कर देता है, जो अन्य लोगों को सुखार्थ और हितार्थ कर्म

करता है, जिसके कर्म स्वार्थरहित होते हैं, वह कर्ता कर्मों के बंधन से नहीं बँधता। इन्हीं कर्मों के द्वारा उसके चित्त की शुद्धि होती है और अन्तःकरण के शुद्ध होने पर मन स्थिर हो जाता है। जिसका मन स्थिर है उसे विश्व में कुछ भी अप्राप्य नहीं होता। इस प्रकार का व्यक्ति अपनी आत्मस्वरूपता का ज्ञान प्राप्त कर सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है।

कर्मदेव की पूजा करें:—स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है, 'Every duty is holy and devotion to duty is the highest form of worship of God,'—प्रत्येक कर्म पवित्र है और कर्त्तव्य निष्ठा ईश्वरपूजा का सर्वोच्च प्रकार है। वास्तव में, कोई भी कर्म शुभ या अशुभ नहीं है। कर्ता ही कर्म को रूप प्रदान करता है। कर्म का शुभत्व या अशुभत्व कर्ता की वृत्ति विशेष पर निर्भर है। जब हम अपने कर्त्तव्य कर्म को ईश्वर की पूजा मानकर करते हैं, तब उसके अशुभ या बंधन कारक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर के निमित्त किये गये कर्मों के फल भी ईश्वर को ही प्राप्त होते हैं। कलकत्ते के व्यापारी का एजेन्ट रायपुर में रहकर उस व्यापारी के निमित्त व्यापार करता है, किन्तु उससे होनेवाली हानि या लाभ का उपभोग करने वाला एजेन्ट नहीं होता। उसका उपभोक्ता तो कलकत्ते का व्यापारी ही होता है। देखने वालों को

लगता है कि अमुक कम्पनी का बड़ा भारी कारबार है; अमुक एजेन्ट को बड़ा लाभ होता है, किन्तु वह एजेन्ट मन में भलीभाँति जानता है कि उस व्यापार के लाभ या हानि पर उसका अधिकार नहीं है। उसका अधिकार केवल इतना ही है कि वह अपनी पूरी योग्यता और शक्ति से प्रामाणिकता पूर्वक उस व्यापार को चलाये और देखे कि व्यापार के कार्यों में उससे कोई भूल न हो। यही भाव रखकर हमें भी अपना कार्य करना है। जिस प्रभु ने यह सारा विश्व-व्यापार फैलाया है, उन्हीं ने हमें अपने इस व्यापार के एक विशेष भाग के लिये एजेन्ट नियुक्त किया है। हमारा धर्म है कि अपने लिये निर्धारित कर्म को हम अपनी संपूर्ण शक्ति और योग्यता से करें। कार्य करने में हमसे कोई भूल न हो। एजेन्ट जितनी अधिक योग्यता से काम करता है, व्यापारी उतना ही अधिक प्रसन्न होता है। कार्य कुशल एजेन्ट भी यदि फल की आशा व्यापारी के पास सदैव व्यक्त करता रहे, वेतन बढ़ाने की माँग करता रहे, तो व्यापारी की नजरों से वह गिर जाता है। पर यदि एजेन्ट फल को भी व्यापारी पर छोड़ देता है, तो उसकी उन्नति की सीमा नहीं; हो सकता है कि व्यापारी उस पर प्रसन्न होकर उसे अपना भागीदार भी बना ले।

ठीक इसी प्रकार हम जितनी योग्यता, लगन औरभक्ति से अपना कार्य करेंगे और फल की आशा नहीं रखेंगे

उतने ही प्रभु हम पर अधिक प्रसन्न होंगे। एक बार उस सर्वशक्तिमान् के प्रसन्न हो जाने पर फिर मनुष्य को किस चीज की कमी रह सकती है? जो सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं, वे हमारी सभी इच्छाओं को पूर्ण कर देंगे। हम केवल उनके द्वारा दिये गये कर्मों को उनके ही निमित्त समूचे मन-प्राण से करें। यदि हम इस कर्मदेव की उचित पूजा कर सकें, तो हमें जीवन का पाथेय प्राप्त होगा। आइये, एक बार भक्ति से कहें—'कर्मदेवोभव'।

यात्रा संस्मरण—

दिल्ली से फेडरिक्टन

श्री श्यामनारायण शुक्ल

(इस यात्रा-संस्मरण के लेखक श्री श्यामनारायण शुक्ल अगस्त १९६२ तक रायपुर में लोकनिर्माण विभाग में असिस्टट इञ्जीनियर के पद पर कार्य करते रहे। कैनेडा के न्यू ब्रंसविक विश्व-विद्यालय की ओर से इन्हें फेलोशिप प्रदान किया गया है। वे वहाँ स्ट्रक्चरल इंजीनियरिंग में M. Sc. (Engg) कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख में उनकी यात्रा का रोचक संस्मरण है। कैनेडा के सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन सम्बन्धी उनके संस्मरण भी समय पर प्रकाशित किये जायेंगे।)

मेरी यात्रा का दिन ५ अक्तूबर निश्चित हुआ था। रात्रि को १०-०५ बजे बी० ओ० ए० सी० के वायुयान से मैं जाने वाला था। जैसी कि मुझे सूचना दी गयी थी, ठीक ९ बजे मैं दिल्ली के पालम हवाई अडडे पर पहुँच गया। वहाँ हमें बताया गया कि वायुयान के किसी पुर्जे में गड़बड़ी होने के कारण वह अभी भी हाँगकाँग से नहीं चला है और ६ घंटे की देरी की संभावना है। बी० ओ० ए० सी० ने रात्रि में हमारे भोजन व विश्राम के लिये नई दिल्ली के इम्पीरियल होटल में प्रबन्ध किया। हम बी०

ओ० ए० सी० के ही 'बस' से वहाँ पहुँचाये गये। यह भी बताया गया कि तीन बजे रात्रि को हम तैयार रहें और उस समय 'बस' हमें लेने आयेगी। कश्मीर के एक श्रीचमनलाल चौधरी के तथा मेरे लिये एक ही कमरे में प्रबन्ध किया गया था संयोगवश वे भी सिविल इंजीनियरिंग के ही विद्यार्थी थे। उन्होंने पिछले वर्ष लंदन विश्व विद्यालय से बी० एस सी० (इंजी०) पास किया और अब वहीं एम० एस० सी० (इन्जी०) के लिये जा रहे थे।

रात्रि को १॥ बजे मेरी नींद खुली। हमारे कमरे के टेलीफोन की घन्टी बज रही थी। बी० ओ० ए० सी० के स्टेशन आफीसर ने मुझे फोन पर बताया कि वायुयान १५ घन्टे देरी से आ रहा है और अब वह २। बजे दिन को (६ अक्तूबर को) रवाना होगा। उस बीच श्रीचौधरी भी उठ गये थे। मैंने उन्हें अपनी आशंका बताई कि यह वायुयान से मेरी पहली यात्रा थी और इस तरह से प्रारम्भ में ही गड़बड़ी देखकर मेरा मन डर गया है।

दिन के १ बजे हम पालम पहुँचे। कस्टम आदि से निवृत्त होकर हम पोर्टपर पहुँचे। हमें एयर होस्टेस ने सीट नम्बर का कार्ड दिया।।लाउडस्पीकर पर सूचना दी गई कि हम अब वायुयान पर बैठ जायँ। ठीक २। बजे वायुयान उड़ा। उसके पहले वायुयान में ही लगे लाउडस्पीकर पर स्टीवर्ड ने घोषणा की कि वायुयान २१००० फुट की ऊँचाई पर उड़ेगा तथा २ घंटे २० मिनट बाद हम कुवैत

पहुँचेंगे। हमें यह भी निर्देश दिया गया कि सीट का बेल्ट हम अपने कमर में बाँध लें। पृथ्वी के आकर्षण के विरुद्ध ऊपर उठते समय बड़ा अभूतपूर्व अनुभव हुआ। धीरे-धीरे भवन, सड़क, खेत आदि छोटे होने लगे। पूरी ऊँचाई पर पहुँचने के बाद हमने बेल्ट खोल लिया। सौभाग्यवश मैं खिड़की के पास की ही सीट पर था, अतः नीचे का दृश्य अच्छी तरह देख सकता था।

वायुयात्रा संबंधी जानकारी के लिए हमें पुस्तिकाएँ दी गयीं। उस यान में लगभग १०० यात्रियों की जगह रही होगी, पर केवल ४० यात्री उसमें रहे होंगे। हम ५ भारतीय थे। मेरे बायीं ओर बिहार विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक श्री धर्मदत्त शर्मा थे। वे अंग्रेजी साहित्य में पी. एच. डी. करने एडिनबर्ग विश्वविद्यालय जा रहे थे!

शीघ्र ही हम राजस्थान के मरुस्थल पर से उड़ रहे थे। सिंध में अनेक नहरें दिखीं। पहले मैंने उन्हें रेलवे लाइन समझा, उसके बाद ऐसा लगा कि वे सड़कें हैं। बाद में स्पष्ट दीखने लगा कि वे नहरें थीं। समुद्र से मिलती हुई एक विशाल नदी दिखी। मैंने अनुमान किया कि सिंधु नदी होगी। बलूचिस्तान में भी दूर-दूर तक नग्न पर्वत और मरुभूमि दृष्टिगोचर हो रहे थे। स्टीवर्ड ने ही बताया कि हम बलूचिस्तान पर से उड़ रहे हैं। उसके बाद हम ईरान की खाड़ी में आये। कुवैत पहुँचते तक मुझे अपने

दाहिनी ओर का सीढ़ीदार समुद्री कनारा दिखता रहा। नीचे समुद्र में मैं ने दो जलयान देखे। हमारे ऊपर और नीचे से थोड़े ही अन्तर में वायुयान भी गुजरे।

जब कुवैत के पास पहुंचे, तब घोषणा की गई कि हम उतर रहे हैं, अतः पुनः बेल्ट बाँध लें। समुद्र तट पर विशाल नग्न रेतीले मैदान में यह शहर बड़ा ही योजना बद्ध बसा है। दूर-दूर तक रेत ही रेत दिखी—सपाट वृक्ष हीन रेतीला मैदान। कई जगह तेल के कुएँ दिखे। बंदरगाह पर अनेक जहाज खड़े और आते-जाते दिखे। शहर के बाहर सीधी और लंबी कुछ डामर की सड़कें दिखीं। पेट्रोल भरी अनेक मोटरें रेतीले मैदान में स्वयं सड़क बनाती हुई इधर-उधर दौड़ रही थीं। कुछ नीचे आने पर हवाई अड्डा भी दिखने लगा। यान से उतरने के बाद हमें ट्रांसिट पास दिया गया, जिसे लेकर हम विश्राम गृह आये। हमारी घड़ियों में तब ६॥ बज रहे थे, जब कि वहाँ स्थानीय समय ४॥ बजे था। ४५ मिनट बाद हम बेरुत के लिये उड़े। इस समय यान ३२००० फुट की ऊँचाई पर उड़ रहा था। थोड़ी देर बाद ही अँधेरा हो गया, अतः नीचे कुछ नहीं दिखता था। २ घंटा २५ मिनट बाद हम बेरुत पहुँचे। सारा शहर समुद्र तट पर जगमगा रहा था। पहाड़ियों की ढाल में सड़कों के किनारे बत्तियों की कतारें और समुद्र में उनकी परछाईं की शोभा मैं देखता रहा। हमारा वायुयान ३-४ चक्कर समुद्र और शहर के ऊपर लगाता रहा। संभवतः उसे उतरने

की अनुमति नहीं दी गई थी। यहाँ दिल्ली और कुवैत की अपेक्षा ठंढ अधिक लगी। वी॰ ओ. ए॰ सी॰ की रिसेप्सनिष्ट लड़कियाँ बड़ी अच्छी अंग्रेजी बोल रही थीं। जब वे आपस में अपनी भाषा में बोलने लगीं, तब समझ में आया कि वे लेबनानी लड़कियाँ हैं। लिफ्ट पर से हमें एक लड़की ऊपर लाऊँज में ले गई। वहाँ से पहाड़ी की ढाल में बसे शहर की तथा ऊपर-नीचे दौड़ती हुई सड़कों की न्यारी शोभा थी। पुनः ४५ मिनट बाद हम जूरिख़ के लिये रवाना हुए। यह ४ घंटा २५ मिनट की यात्रा थी। हम अब ३५००० फुट की ऊँचाई पर उड़ रहे थे ऐसा बताया गया। नीचे पास-पास ही लगातार अनक शहर जगमगा रहे थे। यह दृश्य लंदन पहुँचते तक रहा। बीच में प्रायः २ घंटे मुझे नींद लग गयी। जब जूरिख़ पहुँचने की सूचना लाउड स्पीकर पर हुई, तब मेरी नींद खुली। जैसे-जैसे यान नीचे उतरा, शहर की विशालता और सुन्दरता का आभास होता गया। यान से बाहर आते ही भयानक ठंढ का सामना करना पड़ा, पर विश्राम गृह का तापमान बड़ा ही सुखद था।

मैं उत्सुकता से इंग्लिश चैनल देखने के लिये जग रहा था। पर अँधेरे व कुहरे के कारण नीचे कुछ नहीं दिखा। जूरिख़ से लंदन की यात्रा १ घंटे २० मिनट की थी। हमें बताया गया कि लंदन शहर हवाई अड्डे से १५ मील दूर है और अभी हवाई अड्डे का तापमान ४०° फै॰ है। जब हम ंदन के ऊपर पहुँचे, तब नीचे कुहरे के

ऊपर से धुँधले प्रकाश से लंदन की विशालता का अनुमान हुआ। स्पष्ट तो कुछ नहीं दिखता था। आश्चर्य होता है कि यान-चालक कैसे कुशलता पूर्वक उस धुँधले में भी ठीक जगह पर वायुयान उतार सका। उस समय वहाँ रात्रि के १॥ बजे थे। (शायद भारतीय घड़ियों में ७॥ बजे होंगे।) हमारे लिये यहाँ की ठंढ बहुत थी। यान से उतरने पर हमारे स्वास्थ्य-पत्र और पासपोर्ट की जाँच की गई। मुझे निर्णय करना था कि मैं दिन को लंदन देखने के लिये रुकूं अथवा सीधे सबेरे के प्लेन से मांट्रियाल चला जाऊँ। याद आया कि मेरे पास केवल ६५ डालर थे। दिल्ली में मैं बैंक ड्राफ्ट नहीं भुना सका, अतः एक्सचेंज नहीं ले पाया था। मैंने बी॰ ओ॰ ए॰ सी॰ ऑफिस को अपने मांट्रियाल जाने की सूचना दी। उस लड़की ने तुरंत ही ६-४५ बजे जाने वाले प्लेन में मेरे लिये एक स्थान सुरक्षित कराया तथा फोन द्वारा एरियल होटल में मेरे रहने के लिये व्यवस्था कर दी। एक टैक्सी द्वारा मैं वहाँ पहुँचाया गया। वेटर ने लिफ्ट द्वारा मुझे मेरे कमरे में पहुँचाया जो संभवतः चौथी मंजिल पर था। इस होटल की सुविधाएँ देखकर आश्चर्य होता था। कमरे में रेडियो-टेलीविज़न, टेलीफोन, अलग से स्नानागार आदि का प्रबंध था।

प्रातः ७॥ बजे एक व्यक्ति आकर मुझे जगा गया। उसने बताया कि ८ बजे मुझे एयरपोर्ट पहुँच जाना चाहिये और गाड़ी नीचे ७-४५ तक मेरी प्रतीक्षा करेगी।

मैं शीघ्र ही तैयार हुआ और कमरे से बाहर बरामदे में आया। बरामदे में कई जगह लिफ्ट लगे थे। पर मैं लिफ्ट चलाना नहीं जानता था, अतः सीढ़ी से उतरना चाहता था। सीढ़ी कहीं नजर नहीं आई। लाचार हो मैंने लिफ्ट का एक बटन दबा दिया। लिफ्ट का दरवाजा खुलते ही मैं भीतर प्रविष्ट हुआ। थोड़ी देर बाद स्वयं ही दरवाजा बन्द हो गया। थोड़ी देर अध्ययन करके मैंनें एक बटन दबाया। लिफ्ट अज्ञात मंजिल में आकर रुका। मैं बाहर निकला। बरामदे में ही एक वेटर से भेट हुई। उसे मैंने जब बताया कि मैं काउंटर पर जाना चाहता हूँ, तब उसने मुझे पुनः लिफ्ट द्वारा नोचे पहुँचने में सहायता दी। उसन कहा कि मैं गलत मजिल पर था। होटलको कार द्वारा मैं एयर पोर्ट पहुँचा।

ठीक ९॥ बजे हमने यान के भोतर प्रवेश किया। इसमें प्रायः १५० यात्रियों की जगह रही होगो और सभी सीटें भरो थीं। पिछले वायुयान से यह बड़ा था। लाउड स्पीकर पर सूचना हुई कि वायुयान ३५०००फुट की ऊँचाई पर उड़ेगा और यात्रा लगातार ६ घन्टे ४५ मिनट को होगी। शीघ्र ही हम बादलों के ऊपर थे। घने बादलों के कारण अब कुछ नहीं दिख रहा था, अतः बड़ी निराशा हुई। थोड़ी देर बाद बताया गया कि हम आयर्लैन्ड के ऊपर से उड रहे थे। कुछ देर बाद जबकि हम बीच

अटलांटिक सागर पर से उड़ते रहे होंगे, भोजन परोसा गया। मैं लन्दन में बी॰ ओ॰ ए॰ सी॰ के अधिकारियों को यह बताना भूल गया था कि मैं शाकाहारी हूँ। जब मैंने एयर होस्टेस को यह बताया, तो वह कुछ परेशानी में पड़ गई। कुछ देर बाद वह डबल रोटी, मक्खन, उबली हुई सेम और हरी गोभी पत्ती ले आई। मेरे बाईं ओर एक कैनेडियन सज्जन थे जो मांट्रियालवासी थे। उन्होंने बताया कि द्वितीय महायुद्ध में वे भारतीय वायुसेना में थे। उन दिनों वे बम्बई तथा बंगलोर में रह चुके थे। उस समय वे आँग्ल नागरिक थे, पर द्वितीय महायुद्ध के बाद कैनेडा में आ बसे। उन्होंने बताया कि मेरे शाकाहारी होने की बात से उन्होंने अनुमान लगा लिया था कि मैं हिन्दू व ब्राह्मण हूँ। हिन्दू दर्शन बड़ा गहन है तथा सब लोग उसे नहीं समझ सकते आदि शब्दों के साथ चर्चा प्रारम्भ करके वे अपने भारत के संस्मरण मुझे बताने लगे। जब मैंने उनसे कहा कि शाकाहारी होने के कारण सम्भवतः मुझे कैनेडा में भोजन संबंधी कष्ट का सामना करना पड़ेगा, तो वे हँसकर कहने लगे कि ऐसा बिलकुल नहीं होगा। यदि केवल मैं संबंधित व्यक्तियों को समय पर बता दूँ, तो वे सारा प्रबंध बड़ी खुशी से करेंगे। भारतीयों के शाकाहारी भोजन की आदत से प्रायः सभी अमेरिकन परिचित हैं।

जब हम ग्रीनलैंड के पास आये, तब हमें इसकी

सूचना दी गई। बताया गया कि अब सामने दाहिनी ओर ग्रीनलैंड दिख रहा है और १३० मील दूर है। आश्चर्य तो यह था कि वह पास ही स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था। बादल भी अब छँट गये थे। कुछेक बादल के टुकड़े नीचे तैर रहे थे। हो सकता है कि वायुयान अब कम ऊँचाई पर उड़ रहा था। ग्रीनलैंड का दक्षिण भाग हम दाहिनी ओर देख रहे थे। कई लोगों ने वहीं से उसके फोटो खींचे। सारा भूभाग बर्फ से आच्छादित हो सफेद दिख रहा था। पर्वतों की कुछ ऊँची-ऊँची नग्न चोटियाँ दिख रही थीं, पर हमारे यान से वे काफी नीचे थीं। पर्वत चोटियों के नीचे भी बादल तैर रहे थे। इससे अनुमान हुआ कि उनकी ऊँचाई काफी रही होगी। द्वीप के किनारे समुद्र में विशाल बर्फ-शिलाएँ तैर रही थीं। यह सब बड़ा ही अनुपम दृश्य था। कुछ ही देर बाद हम अमेरिका महाद्वीप पर थे, पर बादलों के कारण कुछ नहीं दिखा।

लंदन की घड़ियों के अनुसार ४॥ बजे शाम को हम मांट्रियाल पहुँचे। बताया गया कि उस समय वहाँ दिन के ११॥ बज रहे थे। वायुयान जब बादलों से नीचे उतरा, तब नीचे मांट्रियाल का दृश्य बड़ा विहंगम था। लाल-पीले पत्तों से लदे वृक्ष समूहों को मैं फूलों का उद्यान समझ रहा था। ऐसा लगता था मानो शहर के बीच-बीच में छोटे-छोटे जंगल हों। भारतीय वृक्षों से बिलकुल भिन्न वृक्ष थे वे। बाद में पता चला कि पतझड़ के पूर्व अधिकांश

वृक्षों के पत्ते लाल हो जाते हैं (सदाबहार वृक्षों को छोड़ कर) इसी ऋतुमें प्रकृति की शोभा इस भूभाग में अत्यन्त ही सुन्दर होती है। ऊपर से सेंट लारेंस नदी सकरी दिख रही थी, पर नीचे आने से उसकी विशालता का पता लगा। मई से नवंबर तक उसमें बड़े-बड़े जहाज आते हैं और मांट्रियाल कैनेडा का सबसे बड़ा शहर ही नहीं बल्कि एक मुख्य बन्दरगाह भी है।

कस्टम एवं इमिग्रेशन ऑफिस से निवृत्त होकर हम बी. ओ. ए. सी. के काउंटर पर आये। वहाँ मेरी भेंट एक भारतीय विद्यार्थी से हुई। वे लंदन से मेरे साथ उसी वायुयान में थे पर भेंट यहाँ हुई। विद्युत् इंजीनियरिंग पढ़ने वे भी न्यू ब्रंसविक विश्वविद्यालय जा रहे थे। हमें बताया गया कि फेडरिक्टन में मौसम खराब होने के कारण कोई वायुयान आज वहाँ नहीं जायगा। हम ऐसे भी १५ दिन देरी से विश्वविद्यालय में प्रवेश ले रहे थे अतः हमने मांट्रियाल में रुककर देरी करना उचित नहीं समझा और रेलगाड़ी से यात्रा की व्यवस्था करने के लिये कहा। तुरन्त ही उन्होंने हमारे लिये रेलगाड़ी से प्रथम श्रेणी द्वारा यात्रा के लिये जगह सुरक्षित करा दी। हमें ४ कार्ड दिये टैक्सी, रेलवे टिकट, स्वल्पाहार और भोजन के लिये। हमारे कहने पर उसी समय उन्होंने फोन द्वारा फेडरिक्टन में विश्वविद्यालय के अधिकारियों को सूचना दी कि हम आठ अक्टूबर को प्रातः वहाँ पहुँच रहे हैं।

एयर पोर्ट पर टैक्सी बूथ को हमने कार्ड बताया। शीघ्र ही उन्होंने एक टैक्सी बुलाई। रेलवे स्टेशन वहाँ से १०-१२ मील दूर था। शहर के बीच से होकर हम गये। टैक्सी ड्रायवर उस भीड़ में भी ६०-७० मील की गति से गाड़ी चला रहा था। सड़क के दाहिनी ओर मोटर बड़े वेग से जा रही थी। चौराहों पर ऐसा लगता था कि कहीं दुर्घटना न हो जाय। स्टेशन में टिकट वाला कार्ड देने पर हमें रेलवे टिकट मिल गया। स्टेशन पर कोका-कोला, आरेंज, आइस्क्रीम आदि चीजों को मशीनें थीं, जिनमें पैसा डालने से अपेक्षित वस्तु बाहर आ जाती थी। हमारे लिये यह बिलकुल नयी बात थी। विज्ञापन के लिये ६६३ मॉडल की एक नई कार रखी थी। फोटो खींचने की एक स्वतःचालित मशीन भी एक जगह रखी हुई थी।

यहाँ समय के दो मापदण्ड प्रचलित हैं। स्थानीय और स्टैंडर्ड दोनों में प्राय: १ घंटे का अंतर रहता है। स्टैंडर्ड समय के अनुसार रेलगाड़ी ६-३५ बजे शाम को छूटने वाली थी। ठीक ६-५ बजे प्लेटफार्म का दरवाजा खुला। हम अपने डब्बे में प्रविष्ट हुए। डब्बा भी विचित्र था। प्रथम श्रेणी में प्रत्येक यात्री के लिए कारीडार के दोनों ओर अलग अलग छोटे-छोटे कमरे थे। कंडक्टर ने हमें हमारा कमरा दिखाया। उस छोटी-सी जगह में सभी सुविधाएं! बैठने के लिए बड़ा आरामदेह सोफा था। वाश

बेसिन फोल्डिग था। एक हैंडिल खोचने से वह खुल गया, अन्यथा दीवाल का ही एक अंग दीखता था। उसी तरह दूसरा हैंडिल खींचने से एक पलग बाहर खुल गया। उसके साथ ही उसके नीचे सोफे की पीठ मुड़ गयी और उस पर बड़ा ही सुंदर बिस्तर लगा हुआ तैयार था, जिसमें साफ गद्दा, कंबल, चादरें व तकिया थे। पलंग के नीचे आने पर एक वार्डरोब भी खुल गया। इन वस्तुओं के सिवाय, आईना पंखा, लैट्रिन सीट, छोटे-छोटे अनेक साफ टावेल, पानी पीने के लिए कागज के कप आदि भी थे। कमरे का तापमान घटाने बढ़ाने का प्रबंध था। गाड़ी में डायनिंग कार भी लगी हुई थी। हम गाड़ी से बिना उतरे दूसरे डब्बों से होते हुए वहाँ पहुँच सकते थे। भोजन के बाद थके होने के कारण शीघ्र ही नींद आ गई। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रमुख प्रांत से होकर हमारी गाड़ी जा रही थी।

प्रातः नींद खुलने पर मैंने देखा कि हम बहुत ही सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों से पूर्ण वन-पर्वतों में से होकर जा रहे हैं। बीच में ३-४ झीलें मिलीं। उनके किनारे इक्के-दुक्के घर बने थे। बड़ा ही नयनाभिराम दृश्य था। लाल पत्तों के कारण वन मानो उद्यान सा लग रहा था। तैयार होकर मैंने डाइनिंग-कार में नाश्ता किया। शीघ्र ही फेडरिक्टन जंक्शन आ गया। स्टेशन पर विश्वविद्यालय से एक प्रोफेसर डा० कैवेना हमें लेने आये थे। उन्होंने

हमें बताया कि फेडरिक्टन शहर यहाँ से २५ मील दूर है और जङ्गलों के बीच से होकर रास्ता है। बादल छाये हुए थे, रिमझिम वर्षा हो रही थी और बेहद ठंढ पड़ रही थी। हमने अपने सूटकेस के बारे में पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि वह ट्रक द्वारा फेडरिक्टन पहुँचेगा और वहाँ के स्टेशन से हमें मिलेगा। कार द्वारा यह २५ मील की यात्रा भी बड़ी आनन्ददायक थी। लगभग ३०-४० मिनट में हम .फेडरिक्टन पहुँचे। पठार पर से जब हम नीचे आ रहे थे तब से नीचे सेंटजॉन नदी के दोनों किनारों पर बसा हुआ तथा पहाड़ियों से घिरा हुआ फेडरिक्टन अत्यन्त आकर्षक लग रहा था।

हम पहले इञ्जीनियरिङ्ग विभाग के डीन प्रो० डिनीन के घर गये। उन्होंने तथा श्रीमती डिनीन ने हमारा स्वागत किया। उनके साथ हमने नाश्ता किया। तत्पश्चात् प्रो० डिनीन हमें रेलवे स्टेशन ले गये जहाँ से हमने अपना सामान लिया। उन्होंने हमें अपनी कार में सारा शहर घुमाया और यहाँ के भवनों एवं स्थानों के बारे में सविस्तार बताया। हमें हमारे होस्टल के कमरे में पहुँचाकर उन्होंने विदा ली।

आधुनिक शंकर-स्वामी विवेकानन्द

श्री रामेश्वर नन्द

इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि पूर्व सदैव आध्यात्मिकता का प्रेरणा-स्रोत रहा है। विश्व के सभी महान् धर्मों का जन्म पूव में ही हुआ। इस पूर्व के उच्चारण मात्र से हमें उदय का आभास एवं बोध होता है। यह तो हुई पूर्व को लेकर एक सामान्य बात, किन्तु इसमें विशिष्ट स्थान है भारतवर्ष का। आध्यात्मिकता का सर्वाधिक और सर्वोच्च जनक हमारा आर्यावर्त ही है। न केवल धर्म प्रत्युत सभ्यता और संस्कृति की प्रथम किरणें भी इसी पुण्य भूमि पर सर्व प्रथम प्रस्फुटित हुईं। जब विश्व के अन्य देश आदिम-मानव की अवस्था में विपन्न-से पड़े थे, तब भारतवर्ष में सभ्यता और संस्कृति का मध्यान्ह हो चुका था! स्वामीजी के शब्दों में; "भारत तब से गतिशील रहा है, क्रियाशील रहा है जब यूनान का अस्तित्त्व तक न था, रोम की कल्पना तक नहीं थी, जब आधुनिक यूरोपवासियों के पुरखे अपने शरीर को नाना प्रकार के रंगों से रंगकर असभ्य बर्बरों की भाँति जंगलों में भटका करते थे। उससे भी पूर्व, जहाँ इतिहास अँधेरे में टटोलता है, जिस गहन अतीत के अंधकार में परम्पराएँ भी झाँकने का साहस नहीं कर पातीं, तब से लेकर आज तक विचारोर्मियाँ उसके वक्ष से फैलती रही हैं"।

आगे चलकर इस भारतवर्ष का सनातन धर्म ही विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों में फैल गया। ठीक वटवृक्ष की अनियमित जड़ों की भाँति आगे चलकर उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी हो गया और वे नये वटवृक्ष के रूप में फैल गये—बौद्धधर्म, जैनधर्म आदि के रूप में! कालान्तर में इनका अस्तित्व अपने मूल स्वरूप से इतना अधिक परिवर्तित और अलग हो गया कि आपस में ही ये संघर्ष-रत हो गये। एक सनातन धर्म अमरबेल की कई शाखाओं में बँट गया और प्रत्येक बेल का अपना अलग महत्त्व बढ़ गया। ऐसे संघर्ष की संक्रान्ति वेला में सबसे अधिक और अकेले यदि अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए किसी को जूझना पड़ा तो हिन्दू धर्म को।

हिन्दू धर्म कहने मात्र से हमें उसकी विराटता का बोध होता है जिसके अपने ही परिवार के सदस्य हैं—जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि। प्रत्येक सम्प्रदाय या तथाकथित धर्म में अनेक महान् आचार्यों और सन्तों का जन्म हुआ। यहाँ उन विस्तारों में न जाकर हमें केवल उन्नीसवीं सदी के महान् जन नायक, समाज-सुधारक और युगप्रवर्तक स्वामी विवेकानन्द तक ही सीमित रहना है। आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द का ठीक वही स्थान है जो अपने समय में जगत्गुरु श्रीमद् आदि-शंकराचार्य का था। शंकर और स्वामीजी (विवेकानन्द) के जीवन में इतना अधिक सामिप्य एवं साम्य है कि

कभी-कभी ऐसा लगता है मानो शंकर ने अपने अपूर्ण कार्य को पूरा करने के लिए पुनः जन्म लिया हो !

शंकर का जन्म केरल प्रदेश के कालडी नामक स्थान में हुआ था। इनके जन्म काल के विषय में अनेक विवाद हैं। कुछ विद्वान् इन्हें ईसा पूर्व, तो कुछ ईसा पश्चात् मानते हैं। पाश्चात्य मतानुसार उनका जन्म ईसा के ७८८ या ८२० वर्ष पश्चात् हुआ था, जबकि अन्य भारतीय विद्वानों के मतानुसार वे ई० पू० छठवीं शताब्दी के बताये जाते हैं जो भी हो, अधिकांश विद्वानों के मतानुसार तथा शंकर रचित ब्रह्मसूत्र के भाष्य एवं अन्यान्य ग्रन्थों तथा कुमारिल भट्ट के साथ हुए शास्त्रार्थ के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कम से कम ई० पू० दूसरी शताब्दी के आसपास उनका जन्म हुआ था। इस प्रकर शंकर और स्वामीजी के जन्मकाल में कम से कम दो हजार वर्षों का अन्तर होते हुए भी हम देखेंगे कि उन दोनों के जीवन में कितना अधिक साम्य है।

दोनों के जन्म की घटनाएँ प्रायः एक सी ही हैं। शंकर के पिता श्री शिवगुरु विद्याधिराज एवं उनकी धर्मपत्नी सती अम्बिका भगवान् शिव के अनन्य भक्त थे। पर उनके कोई सन्तान न थी, जिससे वे बड़े दुःखी थे। अन्त में कहते हैं कि भगवान् शिव के वरदानस्वरूप ही शंकर का जन्म हुआ। ठीक उसी प्रकार श्रीविश्वनाथ दत्त

और भुवनेश्वरी देवी भी सन्तान-चिन्ता से बड़े दु:खी थे। भुवनेश्वरी देवी भी भगवान् शिव की अनन्य उपासिका थीं। बनारस-स्थित अपने एक सम्बन्धीके द्वारा वे निरन्तर भगवान् शिव के मन्दिर में पूजा-पाठ कराती रहीं। एक दिन अन्ततः भगवान् शंकर ने उनकी प्रार्थना सुन ली। भुवनेश्वरी देवी ने स्वप्न में देखा कि स्वयं शिवजी बालक के रूप में उनके पास आ रहे हैं। इस घटना के पश्चात् ही भुवनेश्वरी देवी १२ जनवरी सन् १८६३ ई० सोमवार को मातृत्व को प्राप्त हुईं। सूर्योदय से ठीक ६ मिनट पहले विश्व के लिए ज्ञान और सेवा भाव का नया संदेश लेकर इस महापुरुष का अवतरण हुआ। अध्ययन और स्मरण-शक्ति की क्षमता भी इनमें अद्वितीय थी। केवल सात वर्ष की आयु में इन्हें संस्कृत व्याकरण मुग्ध-बोधिनी कंठस्थ हो चुकी थी। किसी भी पुस्तक को वे एक बार पढ़ लेने पर शब्दशः सुना सकते थे। इतना ही नहीं, पुस्तकों के केवल प्रारम्भ के कुछ पृष्ठ पढ़कर ही उनके मध्य की कथावस्तु को भी वे बता दे सकते थे। इसी प्रकार की घटना भगवान् शंकराचार्य को लेकर है। उन्होंने भी केवल सात वर्ष की आयु में अपनी सम्पूर्ण शिक्षा समाप्त कर ली थी। १६ वर्ष की आयु में उनका लेखनकार्य शेष हो गया था। और बत्तीस वर्ष की आयु में उन्होंने चार मठों की स्थापना, अद्वैत का मण्डन, अन्य मतों का खण्डन आदि सारा कार्य शेष करके, महासमाधि ले ली थी। विवेकानन्द ने भी केवल उनतालीस वर्ष कीआयु में

अपना सारा कार्य शेष कर लिया था। शैशवावस्था में ही उनकी विलक्षणताएँ प्रकट हो रही थीं। कुछ उदाहरणों को यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा। मैट्रिक की परीक्षा को केवल तीन दिन रह गये थे। नरेन्द्रनाथ को पता लगा कि रेखागणित के विषय में तो उन्हें कुछ भी ज्ञात न था। बस! उन्होंने तत्काल पढ़ाई आरम्भ कर दी और चौबीस घंटे मात्र में उन्होंने चार पुस्तकों पर अधिकार प्राप्त कर लिया। कालेज जीवन की एक घटना भी उल्लेखनीय है, जब उनके दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक डब्ल्यू० डब्ल्यू० हेस्टी ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित हो कर भविष्यवाणी की थी कि "सचमुच नरेन्द्रनाथ बड़ा प्रतिभावान् है। मैंने सुदूर देशों का भ्रमण किया है पर आज तक उसके समान प्रतिभासम्पन्न और महान् सम्भावनाओं से युक्त एक भी छात्र मुझे न मिला यहाँ तक कि जर्मनी के विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के छात्रों तक में नहीं। वह निश्चय ही जीवन में अपनी छाप छोड़ जायेगा।" और आगे चलकर इस प्रोफेसर की भविष्यवाणी कितनी सच हुई! उनका नरेन्द्रनाथ विश्वप्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द बना। इसी प्रकार की और भी अनेक घटनाएँ हैं, जिनका उल्लेख यहाँ कर पाना सम्भव नहीं। तथापि महत्त्वपूर्ण होने के कारण एक और उल्लेखनीय घटना यहाँ सन्निविष्ट करते हैं जो बोस्टननगर की है, जब सर्वथा अपरिचित उस विदेश में विवेकानन्द को धर्मसभा में प्रवेश पाने की कठिनाई आ उपस्थित हुई। इसी

समय हारवर्ड यूनिवर्सिटी के विख्यात प्राध्यापक जे. एच. राइट से इनका परिचय हुआ। इनकी कठिनाई को देखकर उक्त प्राध्यापक ने कहा था, "आपसे परिचय-पत्र माँगना मानो सूर्य से यह पूछना है कि तुम्हें चमकने का क्या अधिकार है?" इसी प्राध्यापक की सहायता से वे शिकागो में आयोजित सर्व धर्मपरिषद में प्रवेश पा सके थे। फिर तो उनका नाम विश्व के अनेक भागों में वायु-वेग से फैल गया। हिन्दुओं को मूर्ति-पूजक की व्यंगात्मक संज्ञा से विभूषित करनेवाली सभी धर्मों के प्रतिनिधियों को लज्जित हो जाना पड़ा। विश्व में इसके पूर्व हिन्दू धर्म के प्रति केवल वही धारणा थी जो इस देश में आये ईसाई पादरियों या अन्यान्य आंग्ल विद्वानों द्वारा उनकी रचनाओं में प्रकाशित की गयी थी। तब तक भारतवासी केवल जादू-टोना, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में डूबे, पिछड़े हुए लोग समझे जाते थे। शंकर ने भी ठीक इसी प्रकार सारे भारत में प्रचलित तत्कालीन मत-मतान्तरों के विरुद्ध सिंहनाद किया था। उन्होंने तत्कालीन बौद्धों के विरुद्ध एक अखिल भारतीय स्तर पर आन्दोलन किया। शास्त्रार्थ एवं तर्क द्वारा उन्होंने सारे विरोधियों का मुँह बन्द किया। अस्तप्राय हिन्दू धर्म को और वेदान्त के महत्त्व को उन्होंने पुनः स्थापित किया। न केवल बौद्धों प्रत्युत तत्कालीन ब्राह्मणवाद की कर्मकाण्डीय रूढ़ियों का भी मुँहतोड़ जबाब दिया था शंकर ने। विवेकानन्दने भी तत्कालीन भारतीय हिन्दू-समाज को वेदान्त की नयी

शिक्षा दी। उन्होंने शंकर से भी कुछ आगे बढ़कर, वेदान्त और आधुनिकता का समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया। वे केवल वेदान्त के सूक्ष्म आत्म-वाद तक सीमित न रहे। प्रत्येक नर उनके लिए नारायण था। एक बार लंदन में उन्होंने कहा था, "तुम लोग नहीं जानते! हम भारतवासी मानव-पूजक हैं। मानव ही हमारा भगवान् है।" जिस समय विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ, उस समय के भारतीय समाज की स्थिति अत्यन्त तमसाच्छन्न थी। आंग्ल सभ्यता, शिक्षा और संस्कृति से प्रभावित हमारे नवयुवक एवं हमारा बौद्धिक वर्ग, सहजगामी ईसाइयत की ओर तीव्रता से आकर्षित हुए जा रहे थे। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में शिक्षित इन नवयुवकों को भारतीय संस्कृति और भारतीय विचारधारा में केवल दोष, रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों के दर्शन होते थे। उन्हें ऐसा लगता था कि जो कुछ भी स्वस्थ एवं सुलझा हुआ है, वह मात्र पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति में है। भारत तो केवल उलझे विचारों और परम्पराओं का दास है। हिन्दुत्व केवल जादू-टोना या इसी प्रकार के अन्धविश्वासों का नाम है। मूर्ति-पूजा एक जघन्य पाप है, आदि आदि। ऐसी विचित्र निराशात्मक एवं उत्साहहीन भारतीय स्थिति को लक्ष्य करके ही स्वामीजी ने कहा था, "क्या भारत मृत्यु को प्राप्त होगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता शेष हो जायगी। समस्त नैतिक पूर्णता खत्म हो जायेगी। धर्मके प्रति सारी मधुर सहानुभूति का अन्त हो जायेगा।"

विवेकानन्द के इन शब्दों का मूल्य आज हम अपनी आँखों से देख रहे हैं धर्म के प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टि-कोण जितना भारतीयों का रहा है,उतना कदाचित् विश्व के अन्य किन्हीं भी लोगों का नहीं। यह हमारी धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलन्त उदाहरण है कि हमारे ही घर में हमारी निन्दा करने वाले भी शान्ति और सुख से जीये जा रहे हैं। यदि यही कदम हम विदेशों में उठायें, तो सम्भवतः वे हमें गोलियों से भून देंगे। केवल यह भार-तीय दृष्टिकोण की अपनी विशेषता है, जहाँ अपने धर्म की मर्यादा को तो सम्हाला जाता है पर दूसरे धर्म की निन्दा नहीं की जाती। हमारे ऋषियों ने जब भी कभी कोई कल्याण की प्रार्थना जगत्पिता से की तो सारे विश्व के लिए। कभी भी हमने केवल हिन्दुओं' के लिए कुछ भी नहीं कहा। किन्तु, अन्य धर्मावलम्बियों का इस दिशा में हमारे प्रति कैसा व्यवहार रहा है—वह भी हमारे ही देश में, इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कोई भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति ऐसी अनुदार एवं संकीर्ण घटनाओं से परिचित होगा। आँग्ल-साम्राज्य के प्रभुत्व के कारण तत्कालीन भारत का न केवल राजनैतिक प्रत्युत सांस्कृतिक ढाँचा भी सर्वथा एक विपरीत दिशाकी ओर ढलता जा रहा था। धर्म-परि-वर्तन के पश्चात् शासकीय स्तर पर भी भारत के उपेक्षित वर्ग को लाभ हो जाता था। उनके क्रिस्तान हो जाने के पश्चात् समाज में भी उनका स्थान सम्मानपूर्ण हो जाता

था। इस मत-परिवर्तन के लिए जहाँ एक ओर भारत की राजनैतिक परिस्थितियाँ थी, वहीं दूसरी ओर हिन्दुत्व के नाम पर कट्टर हमारे समाज का एक सम्मानित वर्ग भी था। यही कारण है कि स्वामीजी ने मद्रास प्रेसीडेन्सी में जब 'पारियाओं' को विशाल संख्या में ईसाई हो जाते देखा तो वे बड़े दुःखी हुए थे। उन्होंने इसका कारण केवल अज्ञान या दारिद्र्य न बता कर एक और भी कारण बताया था। उन्होंने कहा था कि "ये पारिया" इसलिए ईसाई नहीं हो रहे हैं कि इन्हें भोजन या वस्त्र का अभाव है, बल्कि मात्र इसलिए कि हमारे हिन्दू समाज से इन्हें कभी स्नेह या सहानुभूति नहीं मिल पायी।" और विवेकानन्द का यह कथन आज भी भारत के अधिकांश भागमें सहज ही देखा जा सकता है। आज भी हमारे समाज में ऐसे कठोर लोगों का अभाव नहीं, जो अपने समक्ष सभी को महत्त्वहीन और नगण्य समझते हैं यही कारण है कि इतना विशाल हमारा राष्ट्र होते हुए भी हममें एकता का सर्वथा अभाव है विशाल संख्या में आज भी हमारे सहस्रों हिन्दू भाई ईसाई हो रहे हैं या बनाये जा रहे हैं। स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा था—

"ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं होना है, न हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनना है। पर प्रत्येक को वृद्धि के नियमानुसार अपनी मौलिकता की रक्षा करते हुए दूसरों की भावसंपदा को आत्मसात् करना चाहिए।" किन्तु आज

तो परिस्थिति सर्वथा भिन्न है। मत-परिवर्तन तो तीव्र गति से चालू है ही, साथही अत्यन्त प्रहारक उपायों से। ईसाई मिशनरियों द्वारा जब-तब हिन्दू धर्म को गालियाँ देना और अनर्गल प्रचार करना एक साधारण सी बात हो गयी है। नियमानुसार वृद्धि तो दूर की बात है। प्रचार के विभिन्न उपाय जो ये मिशनरी भारत में काम में ला रहे हैं, प्रायः सभी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को ज्ञात हैं। इनकी कार्यलीला जब 'अति' की ओर बढ़ गई, तो नियोगी-कमीशन को जाँच करनी पड़ी। इस सम्बन्ध में अन्य साहित्य भी सहज उपलब्ध है। आज हम सहिष्णुता किंवा धर्मनिरपेक्षता के नाम पर शिथिल एवं निरुत्साहित से हो गये हैं। कर्तव्य से विमुख हो जाना कदापि सहिष्णुता नहीं है, बह तो कायरता है। ईसाइयों के इसी अनर्गल प्रचार और अनुचित कार्य को देखकर स्वयं स्वामीजी ने एक बार अपने शिष्य सिन्हा से कलकत्ते में कहा था, "कोई यह सहन नहीं कर सकता कि उसका हिन्दू भाई ईसाई बन जाय। तुम तो रोज ही इस घटना की पुनरावृत्ति देखते हो, फिर भी तुम उसके प्रति कितने उदासीन हो! कहाँ रही तुम्हारी श्रद्धा, कहाँ गई तुम्हारी देश भक्ति? प्रतिदिन ही तो ईसाई मिशनरी हिन्दुओं को उनके मुंह पर ही गालियाँ दे रहे हैं, फिर भी तुममें कितने ऐसे हैं जो इसका प्रतिवाद करने खड़े होंगे, जिनका रक्त यह सब देखकर उचित क्षोभ से खौल उठेगा?"

आज तो युग कुछ और ही है। संसार विज्ञान के

नाम पर अति भौतिकवाद की ओर दौड़ा जा रहा है। हमारे भारतीय बन्धु इस चकाचौंध में अपनी दृष्टि को दुर्बल एवं बुद्धि को किंकर्त्तव्य विमूढ़ अवस्था में पा रहे हैं। देश के तथाकथित विद्वान् तो 'धर्म' की चर्चा को ही अपराध समझते हैं। धर्म के विषय में कुछ भी कहना 'साम्प्रदायिकता फैलाने का अपराध है। तो क्या भूत-काल के ये सारे विचारक, संत और सुधारक संकीर्ण विचारों के लोग थे? आज हम बड़े ऊँचे शब्दों और स्वर में धर्मनिरपेक्षता की बात करते हैं, पर भय है यदि यह अतिवाद की ओर पहुँच गया तो कहीं विकृत नास्तिकता ही इसका परिणाम न हो। आज हमारी बुद्धि ऐसी विभ्र-मित हो गई है कि हम अपने धर्म और अपनी संस्कृति के ज्ञान के लिए भी पाश्चात्य मतों की ओर ही ताकते हैं। मानो हमारा कोई अस्तित्व नहीं, हमारी बुद्धि या निर्णय का कोई मूल्य नहीं! आद्य धर्म और राष्ट्र का समन्वय सर्वथा निरर्थक और व्यर्थ समझा जाता है। स्वामी राम-तीर्थ कहते हैं—"राष्ट्र के हित में किया गया प्रत्येक कार्य देवपूजा के समान है"।

कदाचित् ब्रिटिश भारत में भी धर्म इतना उपे-क्षित न था, जितना आज है। इसके लिए यदि कोई उत्तरदायी है तो हमारी वह शिक्षाप्रणाली, जहाँ धार्मिक पक्ष सर्वथा उपेक्षित किंवा नगण्य है। भारत के इतिहास में सदैव ऐसी जटिल परिस्थि-तियों में एक न एक महापुरुष का जन्म होता रहा है,

जिन्होंने समाज को एक नई दिशा दिखाकर, उसमें रहने वालों को प्रेम और एकता के सूत्र में पिरोया। इस सन्दर्भ में समर्थ रामदास, कबीर, रामानुज, गुरुगोबिन्दसिंह, गुरु-तेज बहादुर आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। केवल समर्थ गुरु रामदास के कारण ही शिवाजी जैसे दिव्यात्माको प्रेरणा मिली, जिन्होंने तत्कालीन जरा-जीर्ण हिन्दू समाजकी रक्षा कर, उसमें नवप्राण भरे। यदि शिवा जी महाराज न होते तो भारतमें हिन्दुओंकी क्या अवस्था होती इसका अनुमान कर पाना भी कठिन है। गुरु तेज बहादुर का जीवित भुनवा दिया जाना इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को ज्ञात होगा। गुरु गोविन्दसिंह के नन्हें बच्चों का आत्मत्याग एक असाधारण घटना है। इन्हीं महापुरुषों के पुण्यप्रताप और बलिदान का परिणाम है कि अनेकानेक नृशंस अत्याचारों के पश्चात् भी 'हिन्दुत्व' मिट न सका, उसका सनातन नाम सार्थक रह सका। तो क्या इन सारे महान् विभूतियों को हम केवल संकीर्ण साम्प्रदायिकता का जनक कहेंगे? क्या समाज में धर्म का आधार लेकर इन्होंने राष्ट्र को कोई क्षति पहुँचाई थी? ये कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके विषय में हमें दृढ़ता पूर्वक विचार करना है। भारतके जन-मानससे धर्मकी भावना को अलग करने का कोई भी प्रयास, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होगा। अब प्रश्न आता है, क्या हमारे राष्ट्र को भी किसी राष्ट्र-धर्म की आवश्यकता है या नहीं? इसका उत्तर स्वामी जी के शब्दों में इस प्रकार है—"हमने

देखा कि धर्म ही हमारी शक्ति है। धर्म ही हमारा सामर्थ्य है। हमारा जातीय जीवन धर्म में ही केन्द्रित है। मैं यहाँ पर यह विचार करने खड़ा नही हुआ हूँ कि यह सही है या गलत, कि धर्म में इस जीवन शक्ति का होना कालान्तर में लाभप्रद है या नहीं। चाहे अच्छा हो चाहे बुरा, पर वह तो है ही, तुम उससे बच नहीं सकते। सदाके लिए वह तुम्हारे साथ है और तुम्हें उसकी रक्षा करनी ही होगी। भले ही धर्म में तुम्हारी भी उतनी ही श्रद्धा हो या न हो, पर तुम उसके द्वारा बंधे हुए हो और यदि तुम उसे छोड़ दोगे तो चूर चूर हो जाओगे वही हमारे जातीय जीवन का प्राण केन्द्र है। उसे शक्तिशाली बनाना ही होगा। वह हमारा जातीय मानस है। जातीय जीवन प्रवाह है। उसका अनु-करण करो और वह तुम्हें महिमा के शिखर पर पहुँचा देगा। उसे छोड़ दो कि तुम मरे। ज्योंही तुम उस जातीय जीवन प्रवाह से अपने आप को अलग करते हो, त्योंही विनाश ही एक मात्र परिणाम होगा। मैं यह नहीं कहना चाहता कि दूसरी बातें जरूरी नहीं हैं। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि राजनैतिक या सामाजिक सुधार आवश्यक नहीं हैं। मेरे कहने का अर्थ यह है कि वे सब गौण हैं और धर्म ही प्रमुख है। भारतीय मानस सर्व प्रथम धार्मिक है उसके बाद कुछ और...।"

किन्तु आज परिस्थिति सर्वथा भिन्न हो चली है। आज धर्म सर्वथा गौण हो चला है। उसका प्राथमिक होना तो एक साम्प्रदायिक बात है, उसकी चर्चा करना

संकीर्णता है। लार्ड मैकाले के शैक्षणिक सिद्धान्तों और पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के इन उदार पुजारियों से और आशा भी क्या की जा सकती है? ईश्वर और धर्म तो दूर की बातें हैं। आज के जीवन में आत्म विश्वास भी कहाँ रह गया है। इस अर्थ में तो हम और भी नास्तिक हो चले हैं। इसी परिस्थिति को लक्ष्य करके स्वामीजी ने कहा था—

"प्राचीन धर्म कहता है, वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है, वह नास्तिक है जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।"

आज के जटिल जीवन में नर-नारायण स्वयं नास्तिक हो चला है। पत्थर की मूक मूर्तियों में तो उसकी श्रद्धा और विश्वास दूर रहे पर अपने आप में से क्यों उसका विश्वास उठ चला है? आत्म हत्याएँ तथा अन्य इसी प्रकार के नैतिक अपराधों की वृद्धि से हमें क्या बोध होता है? यही कि आज हम अपने स्वरूप को भूल गये हैं। हमारी दृष्टि केवल शून्यवादिनी हो गयी है। अन्तर में स्थित नारायण पर भी हमारा विश्वास शेष हो चुका है। जड़-सभ्यता में हमें जीव के प्रति श्रद्धा नहीं रह गई है। हमारे आराध्य हैं आज के बड़े-बड़े यंत्र! हमारा लक्ष्य सीमित रह गया है केवल अन्न और वस्त्र तक ही। हाँ यह सत्य है कि जीवन में इनके बिना हमारा अस्तित्व न रह सकेगा। यह भी सत्य है कि आज का मानव दो जून अपनी सूखी रोटी जुटा नहीं पा रहा है। पर क्यों?

इसलिए कि हम स्व-केन्द्रित हो गये हैं। परोपकार या परार्थ हमारे लिये उपहास का विषय मात्र है। किन्तु, स्वामीजी का धर्म केवल मंदिर की मूक मूर्तियों एवं प्रस्तर प्रतिमाओं तक कभी भी सीमित नहीं था। दरिद्र-नारायण को देखकर वे रो पड़ते थे। गरीब और दुखियों के प्रति उनके उद्गार इन शब्दों में देखिए—"उन लक्ष-लक्ष पददलित भारतीयों के लिये हममें से प्रत्येक दिन-रात प्राथना करे, जो गरीबी, पुरोहिती और अत्याचार के भार से पीड़ित हैं अहर्निशि उनके लिए प्रार्थना करो.... । मैं कोई दर्शनिक नहीं हूँ, तत्वज्ञानी नहीं हूँ। मैं हूँ गरीब; गरीबों को प्यार करता हूँ।"

नर ही स्वामीजी के लिए नारायण था और भारत का प्रत्येक दरिद्र उनका भगवान्। स्वामीजी ने न केवल धर्म के लिए अपना जीवन लगा दिया, प्रत्युत समाज की अन्य दिशाओं में भी उन्होंने एक-सा काम किया। वे एक साथ ही धर्म-सुधारक, समाज सुधारक, रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्तिकारी और दार्शनिक थे। देश-भक्ति भी उनमें कूट-कूटकर भरी थी। विदेश में भी अपने देश की गरीबी और दलित अवस्था को स्मरणकर वे कई बार रो पड़े थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द एक शुष्कहृदय, संसार से वीतरागी संन्यासी मात्र न थे। उन्होंने धर्म के नाम पर केवल आध्यात्मिकता पर ही जोर न दिया, वरन् आधुनिकता के विषय में भी उन्होंने कई स्थल पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। यदि उन्होंने

पूर्व को उसकी आध्यात्मिक प्रशंसा में ऊँचा उठाया है, तो पश्चिम को उसकी भौतिक सफलता में। उन्होंने बार-बार भारत को पश्चिम से विज्ञान और उद्योग सीखने की सलाह दी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ शंकर विशेषकर संसारके मायावाद पर जोर दे गये. वहाँ विवेकानन्द ने संसार के व्यावहारिक पक्ष पर भी समान बल दिया है। शंकर ने संन्यास और अद्वैत पर ही बिशेष जोर दिया, किन्तु विवेकानन्द ने दोनों का सुन्दर समन्वय किया। वे प्राचीन अर्वाचीन के समन्वायक थे। नारी शिक्षा पर भी उन्होंने बार-बार जोर दिया था। स्वामी विवेकानन्द इस प्रकार शंकर से कुछ आगे ही बढ़ गये थे। जहाँ तक अद्वैत का प्रश्न है, वे शंकर के समकक्ष थे, किन्तु उनमें शंकर के प्रचण्ड बौद्धिक बल के साथ ही रामानुज की विशाल हृदयता भी थी वे आध्यात्मिक उन्नयन के साथ-साथ भौतिक प्रगति पर भी बल देते रहे। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है उनका मानव-प्रेम। उन्होंने कभी अपनी मुक्ति के लिए प्रयास नहीं किया। देश की करोड़ों जनता की मुक्ति ही उनका आदर्श और लक्ष्य था। वे बार-बार उनकी भलाई के लिए जोर देते थे। वे कहते हैं—

"एक मात्र पूजार्ह देवता मानवीय शरीर में मानव-आत्मा है। सारे प्राणी-शरीर भी मन्दिर ही हैं, पर मनुष्य-देह मन्दिरों में श्रेष्ठ है, ताज महल है जब तक इस देश में लाखों लोग भूख और अज्ञान में तड़प रहे हैं, तब तक

में ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देश द्रोही मानता हूँ जो उनके व्यय पर शिक्षित हुआ पर उनकी ओर तनिक ध्यान तक नहीं देता।"

आज हम स्वामीजी के इन शब्दों को जैसे पूर्णतः भूल चुके हैं। आज हम भारतीय से पहिले बंगाली, गुजराती, पंजाबी या और कुछ हैं। भाषावाद और प्रान्तवाद का विष जीर्ण हुआ जा रहा है हमारी नसों में। जड़ सभ्यता हमें इसकी कोई औषधि कदापि नहीं दे सकती। आज हम पड़ोस में रहकर भी एक दूसरे से द्वेष करने लगे हैं, क्योंकि हमारी भाषा भिन्न है, प्रदेश भिन्न है। आर्य और द्रविड़ का प्रश्न पुनः जाग उठा है। जिस राम और कृष्ण के प्रति आसेतुहिमाचल तक एक सी श्रद्धा और भक्ति थी जो रामयण और महाभारत सारे भारत के लिए समान रूप से प्रियं और पूज्य थे, आज उनके प्रति भी यही द्रविड़ और आर्य भाव जाग उठा है। आदरणीय ग्रन्थों को जलाया तक जा रहा है। दक्षिण में जहाँ राम के विराट् मन्दिर खड़े है, जहाँ राम का रामेश्वरम् भारत प्रसिद्ध तीर्थ है आज वहाँ रावण-पूजन की बातें करते लोग सुनाई पड़ते हैं। यह विष प्राचीन नहीं, स्वार्थी और संकीर्ण, नाम के भूखे निकृष्ट लोगां की देन है। इसी भारत में, आज से सहस्र वर्ष पूर्व शंकर का जन्म केरल प्रांत में हुआ था। फिर उन्होंने विभिन्न प्रदेशों में घूम घूम कर, क्रमशः पुरी, बद्रीनाथ और द्वारिकाश्रम में क्यां मठों की स्थापना की ? उनका क्षेत्र तो

दक्षिण भारत था। क्या उस समय विभिन्न भाषाएँ नहीं थीं ? क्या विभिन्न प्रदेश न थे ? क्या आवागमन की कोई सुविधा थी ? और भी न जाने कितनी असुविधाएँ थीं। पर शंकर के प्रति ऐसा किसी ने नहीं सोचा। सारे भारत के लिए हिमालय और गंगा एक से रहे हैं। सारे भारत में निर्विवाद रूप से गो माता पूज्य रही है। आज का जड़ समाज चाहे गाय को भी एक बकरे की समकोटि का पशु समझ ले, पर राष्ट्रीय और धार्मिक भावात्मक एकता में जो योगदान हमें इन समानताओं से मिला है, वह विश्व में दुर्लभ है। पर आज हम इन बातों को रूढ़ि कहकर टाल देते हैं, जड़ता कहकर उड़ा देते हैं। हमारा बौद्धिक वर्ग अन्धविश्वास कह कर हँस देता है। पर इस सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि ज्यों-ज्यों हम सभ्यता के नाम पर, आधुनिकता के नाम पर अपने आप को प्रगति शील समझते, जा रहे हैं, त्यों-त्यों हमारे समक्ष हमारे विनाश और विभाजन की सामग्रियाँ बढ़ती जा रही हैं। इसका एक मात्र कारण है हमारा चार्वाकीय दृष्टिकोण। अध्यात्म और ईश्वरसे मेरा अर्थ स्वामीजी के ईश्वर से है, अर्थात् नर-नारायण से। हमारे मन में एक सर्वथा भ्रान्त धारणा घर कर गई है कि पश्चिम के लोग हमसे अधिक विद्वान् हैं। वे ही हमारा मार्गदर्शन कर सकते हैं। उन्हीं के सिद्धान्तों में हमें सफलता मिल सकती है, आदि। एक बार स्वामीजी जब लंदन की एक सड़क से जा रहे थे, तो उनकी पूर्वी वेशभूषा का वैचित्र्य देखकर एक व्यक्ति ने

उन पर कोयले फेंक दिये थे। क्या भारत की राजधानी में—नहीं, भारत के किसी भी कोने में ऐसी असभ्यता की आप आशा कर सकते हैं? यह तो लंदन याने इंगलैण्ड की राजधानी की सभ्यता का उदाहरण है! तभी तो स्वामी जी ने कहा था—"पश्चिम देशों का निम्न वर्ग न केवल अपने शास्त्रों से अनभिज्ञ है बल्कि अशिष्ट और अभद्र भी है। जिस पश्चिम को हम प्रगतिशील तथा सुख और शांति का स्वर्ग समझते हैं, वहाँ का जीवन कैसा है। यह स्वामी जी के इन शब्दों से स्पष्ट हो जायगा—"ऐ पाश्चात्य देशवासियो, तुम कितने दुर्बल हो! तुम दुःख की पूजा करते हो। तुम्हारे देश में सर्वत्र मैंने यही देखा। पश्चिमी देशों का सामाजिक जीवन ऊपर से तो हँसी का फुहारा है, पर उसके अन्तराल में करुण वेदना निहित है उसका अन्त सिसकियों में होता है। हँसी-मजाक केवल ऊपर ही ऊपर है। वास्तव में उसमें तीव्र निराशा की टीस भरी हुई है। हमारे देश में दुःख और उदासीनता केवल ऊपर की बातें हैं, पर अन्दर में तो निश्चिन्तता और उल्लास की धारा वह रही है।"

इन चार पक्तियों में पाश्चात्य जीवन का एक चित्र खिंच जाता है हमारे सामने। आंग्ल साहित्य और शासन ने हमें राजनैतिक दासता के साथ-साथ एक ऐसी मानसिक दासता भी प्रदान की, जिससे आजतक भी मुक्त न हो सके भारत में आज भी आँग्ल-भक्तों का अभाव नहीं। यदि वे अपनी इस भक्ति को केवल अपने तक ही सीमित

रखते तो कोई बात न थीं, पर ये लोग अपनी इस मानसिक दासता को सारे समाज पर लादने को तुले हुए हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रश्न पर आंग्ल-प्रेमियों का जीवित द्वन्द्व अभी आज का ही प्रमाण है।

एक समय था, जब वेद-विरोधी बौद्ध प्रबल हो उठे थे हमारे देश में। आत्मा, परमात्मा, वेद सब उनके लिए मिथ्या था। सहस्रों की संख्या में सनातन-धर्म के अनुयायी बौद्ध हुए जा रहे थे। वह हिन्दू धर्म का सन्ध्या काल था, एक प्रकार से हिन्दू धर्म को ग्रहण ही लग गया था। तब ऐसी संक्रामक बेला में आविर्भाव हुआ श्रीमद्-भगवान् आदिशंकराचार्य का, वेदान्त का जयघोष पुनः सारे भारत में गूँज उठा। एक नया प्राण फूँक दिया उन्होंने निष्प्राण प्रहाराक्रान्त इस धर्म में। चार कोनों में चार मठों की स्थापना करके शंकर ने और भी सुदृढ़ कर दिया धर्म और उनके अनुयायियों की स्थिति को। एक ऐसा ही समय था ब्रिटिशकालीन भारत में, जब ईसाई मत प्रबल हो उठा था बौद्ध धर्म की भाँति। उसे शासन का भी प्रोत्साहन प्राप्त था। शिक्षा और संस्कृति भी उसी ढाँचे में ढलती जा, रही थी। बंगाल के कई प्रतिष्ठित परिवार भी ईसाई हो चुके थे। विदेशों में भारत का तथा हिन्दू धर्म का जो भी चित्र था, वह विदेशी मिशनरियों की कुत्सित भावनाओं से ओत-प्रोत था। मिस मेयो की "मदर इण्डिया" का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विदेशियों की दृष्टि में भारत केवल जादू-टोना का देश था।

यहाँ के लोग अंधविश्वासों और नर्क ले जाने वाली मूर्तियों के पूजक थे। अत्यन्त अनुचित उपायों तक को काम में लाया जा रहा था पादरियों द्वारा अपने मत-प्रचार में। विदेशी शासन इनके कर्मों के प्रति धृतराष्ट्र बन गया था। जेल और सैनिकों के बीच भी पादरियों को प्रचार के लिए आ-जा सकने की अनुमति प्राप्त थी। ऐसे समय में सन् १८९३ ई० में शिकागो की विश्वधर्म-सभा में भारत की ओर से उपस्थित हुए धर्म केसरी के समान स्वामी विवेकानन्द। तब पहली बार ईसाईयत के उन पुजारियों को मालूम हुआ कि हिन्दू धर्म का मूल्य क्या है, स्वरूप क्या है। तब उन्हें अपनी हीनता का बोध हुआ और न्यूयार्क हेराल्ड जैसे कट्टर पत्र ने लिखा-"निस्सन्देह, धर्म महासभा में वे (विवेकानन्द) सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनको सुनने के बाद हमें ऐसा लगता है कि उनके विद्वान् देश में मिशनरी भेजना कितनी मूर्खता की बात है।" इतना ही नहीं, एक ने धर्म सभा के बाहर आते हुए कहा—

(जिसका उल्लेख श्रीमती एनीबेसेंट ने किया है)—

"वह और हीदन(Heathen)! और हम उसके देश में मिशनरियाँ भेजते हैं! बल्कि उचित तो यह होगा कि वे हमारे देश में मिशनरियाँ भेजें।'

इन पंक्तियों को पढ़नेके बाद कदाचित् किसी को यह भ्रम न हो जाय कि विवेकानन्द अन्य धर्मावलम्बियों तथा ईसाइयों के विरोधी थे। वे अन्य मतावलम्बियों की तरह

अनुदार नहीं थे। वैसे भी हिन्दुओं की सहिष्णुता विश्व-विख्यात है। इन पंक्तियों में उनके विचार स्पष्ट हो जायेंगे–"मैं इसकी परवाह नहीं करता कि वे हिन्दू हैं, या मुसलमान, या ईसाई। जो भी प्रभु से प्रेम करता है, उसकी सेवा में मैं सदैव तत्पर हूँ।" पर इतना अवश्य है कि मतप्रचार के जिन साधनों को ये ईसाई मिशनरी भारत में आज अपना रहे हैं, उसके वे विरोधी थे। यत्र-तत्र उन्होंने इसका उल्लेख अपने भाषणों में किया है। इस बात से कोई भी निष्पक्ष और विद्वान् व्यक्ति असहमत न होगा कि भारत में ये मिशनरी कई अवांछित उपायों को भी काम में ला रहे हैं। "भारत में ईसाई षड़यंत्र" नामक पुस्तिका तथा "नियोगी कमीशन की रिपोर्ट" में ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे। पर जहाँ तक ईसा का प्रश्न है, स्वामीजी के मन में उनके लिए किसी भी ईसाई से अधिक श्रद्धा और भक्ति थी। एक बार उन्होंने एक महिला द्वारा पूछे जाने पर कहा था— "देवि! यदि मैं ईसा के जीवनकाल में पेलेस्टाइन में होता, तो उनके चरणों को अपने आँसुओं से नहीं बल्कि अपने हृदय के रक्त से धोता।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी जी जहाँ "स्वधर्मे मरणं श्रेयः" में विश्वास करते थे, वहीं अन्य धर्मों के प्रति भी उनकी समान् श्रद्धा थी। भारत के लिए शंकर और विवेकानन्द ने प्रायः एक सा कार्य किया है। अंतर केवल देश और काल का है। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है, मानो शंकर द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को विवेकानन्द

पूरा करने आये थे, या मानो शंकर ने ही पुनः जन्म लिया था विवेकानन्द बनकर। नर-नारायण की सेवा के लिये जो कुछ भी आज रामकृष्ण मिशन द्वारा किया जा रहा है, उसका श्रेय इसी युवा सन्यासी को है। भगवान् राम कृष्ण ने विवेकानन्द में बीज वपन किया, जिनके उर्वर प्रयासों से फूट पड़े आज न केवल भारत प्रत्युत विदेशों तक छा जाने वाले कई मठ—रामकृष्ण मिशन के रूप में। इस संबंध में या मिशन की सेवाओंके विषय में अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। अनवरत सेवा-कार्य में लगे रहकर स्वामी विवेकानन्द काफी थक चुके थे। एक दिन जब एक गुरुभाई ने उनसे पूछा, "क्या तुमने जान लिया है कि तुम कौन हो?" तो स्वामीजी का अप्रत्याशित उत्तर था, "हाँ! मैंने अब जान लिया है।" और इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद अर्थात् ४ जुलाई सन् १९०२ को ३९ वर्ष ५ माह २४ दिन की आयु में भगवान् शिव ने अपना मानवदेह त्याग दी। परमहंस देव पहिले ही कह चुके थे, "जिस दिन नरेन जान जायेगा कि वह कौन है, तो वह फिर नहीं रुकेगा।" गुरु की भविष्यवाणी सच हुई। भले ही उनका भौतिक शरीर आज नहीं है, पर जो मार्ग वे दिखा गये हैं वे आज भी सारे विश्व के लिये प्रेरक हैं—रामकृष्ण आश्रमों के रूप में।

चरित्र-गठन

(इस स्तम्भ के अन्तर्गत कुछ ऐसी जीवन-रेखाएँ प्रस्तुत की जायेंगी, जो हमारे चरित्र के गठन में सहायक हों। पाठक आदर्श जीवन-झाँकियाँ भेज सकते हैं।)

१. हम कहाँ से कहाँ

नागपुर "हितवाद" (२७।१।६३) में दो समाचार छपे हैं।

१—एक पैंसठ वर्ष की बुढ़िया ने जो उमरेड़ (म्युनिसिपल वार्ड नं० ७) में रहती है, ४॥। माशा सोने की एक अंगुठी राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में दान दी है। बुढ़िया के पुत्र मर गये हैं। अब उसका कोई पोषणकर्ता नहीं है, न और कोई आमदनी का सहारा है। किसी प्रकार अपना जीवन बिता रही है।

(यह गुण हमारी प्राचीन संस्कृति का अवशेष है, जो धर्म प्राण जनता ने बचा कर रखा है। किन्तु धर्म को अब जिम्मेदार नेताओं द्वारा गाली-गलौज देकर भी मिटाने का प्रयत्न किया जा रहा है।)

२—पाँच सौ विद्यार्थी लखनऊ शहर से स्वातंत्र्य-दिवस-समारोह देखकर वापस जा रहे थे। कई बिना टिकट थे। ६० विद्यार्थी जबरदस्ती से एक रिजर्व डिब्बे में जा घुसे और यात्रियों को मारा-पीटा और लूटा। ५५ पकड़े गये। कुछ ने जरीमाना दिया। शेष जेल

भेजे गये। उन्नाव में विद्यार्थियों न रेल पर पत्थर भी मारे।

(यह नवीन युग की शिक्षा है, जिसके परिणाम को नेतागण देखकर भी नहीं देख पा रहे हैं।)

२. वीर युवक खड्गबहादुर

इस नेपाली वीर ने एक धनी मारवाड़ी की हत्या की। यह मारवाड़ी नेपाल से किशोर अवस्था की बालिकाओं का अपहरण करके लाता और उन्हें कलकत्ते में पतित व्यवसाय के लिये बेचता था। हत्या करने के अपराध में खंगबहादुर को आठ वर्षों के कठिन कारावास का दण्ड मिला। न्यायाधीश के सम्मुख उसने जो वक्तव्य दिया, उसका अंतिम अंश इस प्रकार है:—

(हिन्दुस्थान टाइम्स अंग्रेजी २२।३।२७ से)

यदि विद्वान् न्यायाधीश महोदय एवं उनके सहायक महानुभावों का यह मत है कि इस भगिनी के सतीत्व एवं उसकी मर्यादा का संरक्षण करना मेरा कर्तव्य नहीं था, यदि आप लोगों का मत है कि मैं उसकी दुर्गति एवं अपमान को शान्त रहकर देखता निष्क्रिय बैठा रहता अथवा आँसू बहाता रहता, यदि आप लोगों का मत है कि हीरालाल और उसके सहकारियों ने समाज में जो क्षति और दुर्बलता ला दी है उसे प्रकाश में लाकर मैंने समाज का अधिकतर अपकार किया है और इस

कारण मैं देश, समाज एवं कौटुम्बिक शान्ति के लिये अधिक हानिप्रद सिद्ध हो रहा हूँ, तो मैं यहाँ आपके समक्ष उपस्थित हूँ और अपने कृत्य का पूर्ण दण्ड सहन करने को प्रस्तुत हूँ। मुझे आप कठोरतम दण्ड दे सकते हैं। मैं उस दिवस की उत्सुकता पूर्वक राह देख रहा हूँ, जब मैं फाँसी के तख्ते पर झूलकर स्वर्ग में परम पिता के न्यायासन के सन्मुख उपस्थित हूँगा और उनसे पृथ्वी पर ऐसे शासन की स्थापना की याचना करूँगा जिसमें न्यायप्रिय व्यक्ति सतीत्व का रक्षण कर सकेंगे; जहाँ नारी सती होगी और पुरुष वीर होगा; जहाँ नारी शक्तिस्वरूपा देवी होगी और रक्त पिपासु आततायीगण उसके सन्मुख भय से कंपित हो उसका सम्मान करेंगे।

(इस बालिका का नेपाल राजकुटुम्ब से दूरस्थ संबंध था। अभियुक्त ने गोरखासंघ के मंत्री की हैसियत से उसका बचाव किया और आततायो के कार्यालय में जाकर खुकरी से उस पर आक्रमण किया। आक्रमण के पूर्व उसने एक पत्र में अपना उद्देश्य और आक्रमण का हेतु लिख कर उसके सम्मुख रख दिया था।)

निर्णय में न्यायायाधीश ने कहा—अभियुक्त का वक्तव्य स्पष्टवादिता और सत्यता की दृष्टि से अद्वितीय है। एक बार इसे घोषित करने के पश्चात् वह इससे तिल मात्र भी पीछे नहीं हटा है। अभियुक्त नवयुवक है। १३ बर्ष की अवस्था में ही उसने अहिंसा की शपथ

ले ली थी एवं महात्मा गाँधी का अनन्य भक्त हो गया था। किन्तु अहिंसा का विश्वासी एवं उसमें दीक्षित होते हुए भी यह ऐसा अवसर उसके सम्मुख आया कि उसे नरपिशाच हीरालाल का शिरश्छेद करने के लिये कटिबद्ध होना पड़ा।

(न्यायाधीश के दण्ड—निर्णय को सुनकर न्यायालय में उपस्थित दर्शक गण चिल्ला उठे "ऐसे न्याय को धिक्कार है।")

३. मुमुक्षु जमुना लाल जी

स्व० जमुनालल जी बजाज को भारत में कौन नहीं जानता। आपकी देशभक्ति, व्यापार-कुशलता एवं दान-शीलता सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु आपका हृदय कितना विशाल था एवं आप कितने निर्लोभी थे यह सब लोग नहीं जानते। नीचे दी हुई घटना इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। आप श्री बच्छराज जी की गोद में आये थे। नये पिता अतीव सम्पन्न थे। किसी बात पर वे जमुनालालजी पर क्रुद्ध हो गये—उनका स्वभाव ही उग्र था। कह बैठे, "सब पैसे-रुपये के साथी हैं। गोद लिये हुए तो हो।" जमुनालाल जी कुछ न बोले, किन्तु उनका निश्चय हो गया। रात में एक पत्र में टिकट लगाकर उन्होंने सब जायदाद से त्यागपत्र लिख दिया और घर से निकल गये। साथ में कुछ नहीं लिया। पत्र पढ़ते ही

नये पिता की आँखें खुलीं और रोने पछताने लगे कि ऐसे महापुरुष के साथ मैंने दुर्व्यवहार किया। जमुनालाल जी अन्यत्र जाकर कहीं एक धर्मशाला में ठहरे थे। वहाँ जाकर क्षमा माँगकर पिताजी उन्हें मनाकर घर लिवा लाये। उनके पत्र की नकल जो हिन्दी नवजीवन ८।७।२६ में छपी थी, इस प्रकार है। मूल भाषा सरल मारवाड़ी है इस कारण भाषान्तर नहीं दिया जा रहा है :—

"सिद्धश्री वर्धा शुभ स्थान पूज्य श्री बच्छराज जी रामधनदास सूं लिखी चि॰ जमना का पांवाधोक बांचीजो। अठे उठे श्री लक्ष्मीनारायण जी महाराज सदा सहाय छे। उपरंच समाचार एक बांची जो। आपकी तबियत आज दिन हमारे ऊपर निहायत नाराज होय गई सो कुछ हरकत नहीं। श्री ठाकुर जी की मरजी और गोद का लियोड़ा था जद आप इस तरह कह्यो। सो आपको कुछ भी कसूर नहीं, जिको हमाने गोद दियो जिनेको कसूर छे। बाकी आप कह्यो कि तुम नालिस करो सो ठीक। बाकी हमारो आपके ऊपर कुछ कर्जो छे नहीं। आपको कमायडो पीसो छे। आपकी खुसी आवे सो करो। हमारो कुछ आप ऊपर अधिकार छे नहीं। हमां आप सों आंज मिती ताईं तो हमारे बारे में अथवा जो हमारे ताईं जो खर्च हुयो सो हुयो, बाकी आज दिन सूं आप कने सूं एक छदाम कोड़ी लेवांगा नहीं, अथवा मंगावांगा नहीं। आप आपके मनमां कोई रीत का

विचार करजो मत ना। आपकी तरफ हमारो कोई रीत का हक आज दिनसों रह्यो छे नहीं। और श्री लक्ष्मीनारायण जी सूं अर्ज ये है कि आपको शरीर ठीक राखे और आपको हाल बीस पचीस बरस तक कायम राखे। और हमां जठे जावांगा वठे सूं थाके ताईं इस माफिक ठाकुर जी से विनती करांगा। और म्हारे सूं जो कुछ कसूर आज ताईं हुयो सो सब माफ करजो। और आपके मनमें हो कि सब पीसा का साथी है, पीसा के ताईं सेवा करछे सो हमारे मनमांतो आप का पीसा की बिलकुल छे नहीं और भी ठाकुर जी करेंगा तो आपके पीसे की हमारे मनमां आगे भी आवेगी नहीं। कारण हमारो तगदीर साथ छे और पीसो हमारे पास होकर हमां कांईं करेगा? म्हाने तो पीसा नजीक रहने की बिल्कुल परवा छे नहीं। आपको दया से श्री ठाकुर जी का भजन सुमरन जो कुछ होवेगा सो करेंगा। सो इस जनम मांही भी सुख पावेंगा और अगला जनम मांही भी सुख पावेंगा। और आप आपके चित्त मां प्रसन्नता राखियो कोई रीत को फिकर करजो मत ना, सब झूठा नाता छे। कोई कोई को पोतो नहीं और कोई कोई को दादो नहीं। सब आप आपका सुख का साथी छे। सब झूठो पसारो छे। आप हाल ताईं माया जाल मांही फंसा रिह्या छो, हमां आज दिन आपके उपदेस सूं माया जाल सूं छूट गयां छां। आगे श्री भगवान् संसार सूं बचावेगा और आपकी मन मां इस तरह बिल्कुल समज जो मत ना

कि हमारे ऊपर नालिस फरियाद करेगा। हमां हमारे राजी खुसी सूं टिकट लगाकर सही कर दीनी छे कि आपके ऊपर अथवा आपकी स्टेट पीसा रुपया गाना गांठा और कोई भी सामान उपर आज से बिल्कुल हक रह्यो नहीं सो जाणजो और हमारे हाथ को कोई को करजो छे नहीं कोई ने भी एक भो पीसो देनो छे नहीं सो जाणजो। और समाचार छे नहिं। और समाचार तो बहुत छे परन्तु हमारे से लेखो जाये नहिं। संवत् १९६४ मिति बैशाख बदि २ मंगलवार।

| एक आने का टिकट |

पूज्य श्री १०५ दादा श्री १०५ बच्छराजजी सूं जमना का पाँवाधोक बांचीजो घणो घणो मान सेती आपकी तरफ हमारो कोई रीत को लेन देन रहो नहीं। श्री ठाकुरजी के मन्दिर को काम बराबर चलाजो। और आपसूं दान धरम बने सो खूब करता जाइयो। और ब्राह्मण साधू ने गाली बिल्कुल दीजो मत ना। और कोई ने भी हाथ का उत्तर देइजो मुंह को उत्तर दीजो मत ना। ज्यादा कांई लिखां? इतना मांहे समज लीजो और हमां आपकी चीजां साथे ल्यांगा नहिं, सो सर्व अठेई आपका छोड़ गया छां। खाली आंग उपर कपड़ा पहरिया छां।"

—डा० त्रेतानाथजी तिवारी द्वारा संकलित।

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी

विवेकानन्द – ग्रन्थावली

सचित्र आकर्षक गेट-अप

	मूल्य
भारत में विवेकानन्द (भारतीय व्याख्यान) —	५.००
देववाणी (अमरीकी शिष्यों को दिये गए उपदेश)	२.७५
पत्रावली (विवेकानन्दजी के स्फूर्तिदायक पत्र)	
" " — प्रथम भाग	५.२५
पत्रावली " " — द्वितीय भाग	४.२५
विवेकानन्दजी के संग में —	५.२०
महापुरुषों की जीवनगाथाएँ —	१.१०
जाति, संस्कृति और समाजवाद —	१.[illegible]५
विवेकानन्दजी की कथाएँ —	१.६०
स्वाधीन भारत ! जय हो ! —	१.५०
परिव्राजक (मेरी भ्रमण कहानी) —	१.५०
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग —	१.६०
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप —	१.३७
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त —	२. ५
हिन्दू धर्म के पक्ष में —	०.७५
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में —	०.९०
भगवान् रामकृष्ण, धर्म तथा संघ —	०.८७
कर्मयोग — १.४० भक्तियोग —	१.५०
राजयोग — १.९० ज्ञानयोग —	३.५०
प्रेमयोग — १.३७ सरल राजयोग —	०.५०

हिन्दू धर्म	—	१.५०	धर्मरहस्य	१.२५
धर्मविज्ञान	—	१.६२	शिकागो वक्तृता मूल्य	०.६२
विविध प्रसंग	—	१.१२	प्राच्य और पाश्चात्य	१.६५
मेरे गुरुदेव	—	०.६२	चिन्तनीय बातें	१.००
शिक्षा	—	०.६५	भारतीय नारी	०.७५
कवितावली	—	०.६२	मेरा जीवन तथा ध्येय	०.५०
पवहारी बाबा	—	०.६०	हमारा भारत	०.६५
वर्तमान भारत	—	०.५०	ईशदूत ईसा	०.२०
मरणोत्तर जीवन	—	०.५०	मन की शक्तियाँ	०.४०

विवेकानन्दजी के उद्गार (पॉकेट साइज) — ०.६५
शक्तिदायी विचार (") — ०.६५
मेरी समर नीति (") — ०.६५
विवेकानन्द चरित—सत्येन्द्रनाथ मजुमदारकृत — ६.००

श्रीरामकृष्ण – साहित्य

सचित्र आकर्षक जैकेट-सहित

श्रीरामकृष्णलीलामृत--विस्तृत जीवन चरित्र, महात्मा गांधी द्वारा भूमिका सहित, दो भागों में, प्रत्येक भाग का ५.००

श्रीरामकृष्णवचनामृत--'म' कृत, श्रीरामकृष्णदेव के अमृतमय उपदेशों का अपूर्व संग्रह तीन भागों में पूर्ण, प्रथम भाग — ६.५०
द्वितीय भाग -- ६.००
तृतीय भाग -- ७.००

श्रीरामकृष्ण उपदेश—स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा
संकलित, पॉकेट साइज, ०.७५

मां सारदा—श्रीरामकृष्णदेव की लीलासहधर्मिणी की
विस्तृत जीवनी, स्वामी अपूर्वानन्दकृत, मूल्य ४.५०

रामकृष्ण—संघ--आदर्श और इतिहास--स्वामी
तेजसानन्दकृत (पॉकेट साइज) ०.७५

धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द--श्रीरामकृष्णदेव के
अन्तरंग संन्यासी शिष्य द्वारा धर्म के गूढ़ तत्त्वों
पर वार्तालाप, दो भागों में, प्रत्येक भाग का २.७५

परमार्थ प्रसंग--स्वामी विरजानन्दकृत,
आर्ट पेपर पर छपी हुई, ३.२५

साधु नागमहाशय—श्रीकृष्णदेव के अन्तरंग
गृही शिष्य का जीवनचरित, १.५०

गीतातत्त्व--स्वामी सारदानन्दकृत, २.८०

भारत में शक्तिपूजा-- " १.२५

वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार-
स्वामी सारदानन्दकृत, ०.५०